संन्यासी और सुन्दरी

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'

प्रकाशक . कविता प्रकाशन, तेलीवाड़ा, बीकानेर-३३४००१

आवरण : हरीप्रकाश त्यागी

संस्करण : १९८२

मूल्य : बाईस रुपये

मुद्रक : गणेश कम्पोजिंग एजेन्सी द्वारा रूपाभ प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

SANYASI AUR SUNDARI *(Novel) by*
Yadvendra Sharma 'Chandra' Rs. 22.00

मैं इतना ही कहूंगा

साहित्य के विभिन्न दृष्टिकोण और भिन्न-भिन्न पहलू होते हैं। उन पहलुओ के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो के कारण मत-मतान्तर की गहरी दरार है—विद्वानों के मध्य !

विचारक कहते है—किसी युग का साहित्य ही उस युग का सच्चा प्रतिबिम्ब होता है अत' वह कृति नि सदेह एक सफल कृति है जो अपने युग का वास्तविक प्रतिनिधित्व कर दे।

मैंने भी 'संन्यासी और सुन्दरी' के लिखने में इस बात का पूर्ण प्रयास किया है कि पाठक जब पढ़ें तो उसे तत्कालीन वाता-वरण की प्रतीति हो, वह उस युग के विभिन्न वर्गों की, विभिन्न परिस्थिति मे उत्पन्न मनोवृति का सही रूप से सैद्धान्तिक भित्ति पर दिग्दर्शन करें।

प्रश्न उठता है कि क्या इस कथा का कोई ऐतिहासिक धरातल है ?

उत्तर देता हू कि इस पुस्तक के लिखने के पूर्व मैंने तत्कालीन साहित्य की कई पुस्तकें पढी। पढने के पश्चात् मै इस परिणाम पर पहुचा कि इस कथा का ऐतिहासिक धरातल भी है और नही भी ? यह विरोधाभास है, लेकिन इस विरोधाभास के पीछे सत्य का आभास भी है। क्योंकि नर्तकी वासवदत्ता की कहानी हमें बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थ और पाली भाषा की कृतियों मे नही मिलती, लेकिन यत्र-तत्र उसकी कथा प्रचलित है।

बौद्ध-धर्म के यशस्वी लेखक महापण्डित राहुल साकृत्यायनजी से भी इस पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व इस विषय पर चर्चा करने

का अवसर प्राप्त हुआ था तो उन्होंने भी विचारपूर्ण तथ्यों के पश्चात् यही कहा कि बंगाल के चन्द साहित्यकारों ने बौद्ध-वार्ताओं के प्रति अत्यन्त स्वतन्त्रता से काम लिया है।

सुप्रसिद्ध भिक्षु भदन्त आनन्द कौसल्यायनजी ने भी राहुल जी के विचारों का समर्थन करते हुए यही कहा कि किंवदन्तियों का कुछ न कुछ वास्तविक तथ्य होता ही है और जो अत्यन्त प्रचलित वस्तु है, वह तो सत्य है ही। मैं भी इस कथन का समर्थक हूं।

जो जन-जन के मन की भावनाओं को उचित पाथेय की ओर उन्मुख करता हुआ स्पन्दित कर दे, वही तो सत्य है और उस सत्य में सन्देह की गुंजाइश कम होती है।

आचार्य उपगुप्त की कथा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वयं उपगुप्त भी श्रेष्ठिवर थे और बाद में उन्होंने प्रव्रज्या ली थी। उनके जीवन के उतार-चढ़ाव व वक्तृत्व-कला सुप्रसिद्ध है— प्रामाणिक बौद्ध-ग्रंथों में।

राहुल जी ने वासवदत्ता का नाम परिवर्तित करने को कहा था, पर मैंने उनसे प्रार्थना की कि प्रचलित सत्य का खण्डन सन्देह का उत्पादक है। मैं मानता हूं, संस्कृत साहित्य की यह वासवदत्ता नहीं है, पर इसकी अपनी कथा भी अत्यन्त लोकप्रिय है, महत्त्वपूर्ण है।

मैंने इस बात का प्रयास किया है कि मेरा प्रत्येक चरित्र अपना विशेष व्यक्तित्व रखे। कम से कम वह अपने 'वर्ग' के सभी व्यक्तियों की मनोभावना का सही प्रतिनिधित्व करे।

जैसे वासवदत्ता उस समय मेरे समक्ष आती है जब उसके अंग-अंग से वासना का उद्दाम उद्वेलित होने लगता है। मनु मनुष्य है, सामन्त पुत्र, धनी है और उसके अपने चक्र हैं। गृह-लक्ष्मी भारतीय पत्नी है। राहुल भावुक कवि है, सदैव अतृप्तता में जल कर अमर बनने की चिन्ता में है। उपगुप्त अशैक्ष है, अशैक्ष पर विपरीत विचारों का प्रभाव शून्य-सा ही पड़ता है। काल्पनिक पात्र हैं—राहुल, गृहलक्ष्मी, छोटे-मोटे।

अन्त मे मैं उन आत्मियो का आभार नही भूल सकता—साहित्यकार श्री रामचन्द्र 'आसू', ललितकुमार शर्मा 'ललित', अग्रज डूगरदास बिस्सा और अपना वह अभिन्न जिसने जीवन के प्रारम्भिक क्षणो मे साहित्य की ओर मेरी अभिरुचि उत्पन्न की —जमना प्रसाद व्यास 'नूनिया'।

इस कृति का रचनाकाल १६५४ ई० है।

अंत में मैं रामपुरिया परिवार के श्री जयचन्दलाल जी, रतनलाल जी एव माणकचन्द जी का भी आभारी हू तथा धन्यवाद का पात्र श्री दिनेश रगा है ही।

आशा है, आप अपनी राय भेजेंगे।

—यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'

आशा लक्ष्मी,
नया शहर
बीकानेर ३३४००१।

१

मगलामुखी ने मद मुस्कान के साथ कहा, 'सौन्दर्य जीवन की पुण्य ज्योति है।'

'नही। क्षण भर मे अस्तित्व विलीन करने वाली एक स्फुलिंग।'

'मैं इसे नही मानती।' अर्धविकसित कमल-सदृश नयन खुलकर पुनः निमीलित हो गए।

'सत्य को सत्य मानना ही पडेगा, आज नही तो कल, कल नही तो कुछ काल पश्चात्।' राहुल ने शय्या पर शायित रूपगर्विता नारी वासवदत्ता को गभीर स्वर में कहा, 'वासवदत्ता! एक क्षण का दभ प्राणी को विवेक-शून्य बनाता है। गत और आगत से अनभिज्ञ बनाता है पर सत्य सत्य होता है।'

'मैं नही स्वीकारती।'

'यौवन में मदान्ध वैभव सागर की उत्ताल तरंगो मे प्रवाहित होने वाले प्राणी को उस मरुभूमि का ज्ञान नही होता जहां तृष्णाएं विकलती है। पीड़ाए सचरण करती हैं।'

वासवदत्ता शय्या पर बैठ गयी। उसकी मुखाकृति तीव्र उत्तेजना के कारण अधिक आकर्षणमयी बन गयी थी।

अपने समीप पड़े हुए मधु चषक को उठाकर एक घूट लिया फिर समीप बैठे सामन्त पुत्र लक्षाधीश मनु के हाथो मे थमा दिया। मनु ने एक क्षण उसके अनुपम अंग-प्रत्यंग को निहारा—किसी अज्ञात सौन्दर्य-सरोवर से निकला है यह रूप-कुसुम! अग्नि-शिखा से प्रज्वलित। अद्भुत स्वर्ग-किन्नरी सा। धनघोर-मेघ-शृंखलाओं के मध्य पूर्णिमा-चन्द्र सा।

मनु के हाथ का चषक हाथ मे ही रह गया। रजत-चषक पर जड़ित एक मणि में अपने आपको देखते हुए वह बोला, 'यह अलौकिक सौन्दर्य

क्षणिक भले ही हो पर कविवर राहुल यह क्षण अनंत है। इस क्षण को किसी आयु की परिधि मे नही बाधा जा सकता।—कविवर! वासवदत्ता ठीक ही कहती है कि सौन्दर्य जीवन की पुण्य ज्योति है।'

राहुल अपने स्कन्धो मे स्पर्शित केश राशि पर हाथ फेरते हुए कहा, 'यह मधु का प्रभाव है श्रीमन्त!'

मनु ने राहुल की ओर देखा। सोचने लगा—यह तरुण प्रकृति विरुद्ध हो रहा है। यौवनावस्था मे वैराग्य की धुन! वह मधु का घूट लेकर वासवदत्ता से बोला, 'यह राहुल प्रकृति से विद्रोह कर रहा है। कोई बात नही। वस्तुत: कुछ प्राणी अपने से अत्यधिक ऐश्वर्य लोगो को साधु-सन्यासी, तपस्वी और भिक्षु बनकर विरक्ति का उपदेश दिया करते हैं।···किंतु तुम वासवदत्ता इसकी चिंता मत करो।···मुझे पिलाती जाओ।'

राहुल मन-ही-मन उद्विग्न हो उठा। वासवदत्ता उसे बार-बार आमंत्रित करके बुलाती है पर उसकी बात को तनिक भी नही मानती? वह अपलक दृष्टि से मदोन्मत्त वासवदत्ता को देखता रहा जो मधु के स्वर्ण पात्र से मनु का चषक भर रही थी और कह रही थी, 'मनु! तुम जानते ही हो कि तुम नगर की प्रतिष्ठामयी पातुर के यहा हो, निष्ठामयी नर्तकी के यहां हो और विश्रुत गायिका के यहा हो। यहां रूप और मधु का अनत निर्झर प्रवाहित होता है। तुम्हे सर्वस्व मिल सकता है। यहां किसी वस्तु-वैभव का अभाव नही।'

राहुल सव्यग्य हसा। बोला—'यह प्रेम और त्याग से परिपूर्ण केवल हृदय का अभाव है।'

'हृदय!' चौंक पड़ी वासवदत्ता। राहुल की ओर उन्मुख हुई। उसकी दृष्टि में व्यथा की अग्निशिखा जलती दिखाई दी जैसे उस रूपजीवा के अन्तस् मे दबी नारी को किसी ने कचोट दिया हो। निमिष भर वह जड़वत् रही। फिर वह एक 'जनसम दर्पण' के सम्मुख आयी।

'जो अस्ति है, वही सत्य है।' उसने प्रसग को बदला। वह चाहती थी कि राहुल प्रेम, हृदय और त्याग की चर्चाओ से वातावरण को भाराक्रान्त न कर दे।

'भोग-विलास के महासागर में विलिप्त प्राणी को प्रत्येक झूठ सत्य

लगता है। उसका विवेक, उसकी प्रज्ञा और उसका गुण सर्वस्व वासना-लिप्त हो जाते हैं और उसे नाशवान पदार्थ जीवन के परम सत्य प्रतीत होते हैं।'

वह तुरन्त राहुल के सन्निकट आयी। उसके हाथ पर अपना हाथ रखती हुई बोली, 'तुम्हारी श्रेष्ठ उपयोगिता है मेरे पास। मैं तुम्हारी वाक्य-चातुरी पर मग्न हो जाती हू। तुम मुझे जीवन-दर्शन के अन्य पहलुओ का ज्ञान कराते हो।···आओ मेरे साथ।'

वह राहुल का हाथ पकड कर प्रकोष्ठ मे ले आयी। तारो जडित नील गगन। उसकी धीमी-धीमी आभा में वासवदत्ता ने राहुल से निवेदन किया, 'मैं सच कहती हूं कि तुम पर अपना सर्वस्व अर्पण करती हू।'

'मैं सर्वस्व अर्पण का आकांक्षी नही हू। मैं सौन्दर्य के दंभ को सहन नही कर सकता। मैं वैभव को वहन नहीं कर सकता। मै केवल तुम्हें अपने सृजन की प्रेरणा के रूप में देखता हू।···मुझे तुम्हारा क्षणिक रूप-समर्पण स्वीकार्य नही।'

'मेरा अपमान मत करो। मेरे सौन्दर्य···।' वह बुदबुदायी।

राहुल खड़ा हुआ। दीवट पर रखे दीपक को उठाकर लाया। उस दीपक की ओर संकेत करके बोला, 'यह क्या ?'

'दीपक।'

'यह दीपक तुम्हारा 'अस्ति' है। यह अपने प्रकाश पुंज से तुम्हारे सौन्दर्य और वैभव की सृष्टि को भासित करता है। जीवन की समस्त वैभव कलाकृतियों, सुखद उमगों-तरगों व उत्थान-पतन का दर्शन कराता है किन्तु जब यह बुझ जायेगा तो ?'

'तो ?'

'तो घोर शून्यता छा जायेगी, निविड तिमिर छा जाएगा।' और राहुल ने फूक से दीपक को बुझा दिया। प्रकोष्ठ मे अन्धकार का साम्राज्य स्थापित हो गया। कुछ क्षण पूर्ण जो अतुल वैभव राशि बिखरी पड़ी थी, वह केवल कालिमा प्रतीत हो रही थी, एक धब्बा-सी दिखाई पड रही थी।

राहुल बोला, 'यह अन्धकार ही सत्य है। यह अन्धकार ही आलोक है। कहां है तुम्हारा सौन्दर्य रूप और वैभव !···कभी एक झटके मे अदृश्य

हो जाएगा।···नमस्कार वासवदत्ता।'

वासवदत्ता विमूढ़-सी खड़ी रही। चतुर्दिक अन्धकार विस्तृत था। राहुल चला गया तो उसे अपने अस्तित्व का ज्ञान हुआ। वह अन्धकार में आकुल हो उठी। परिचारिका को त्वरा से दीप ज्वलित करने की आज्ञा दी और स्वय उन्मन-सी केलि-कक्ष मे गयी जहां मनु आसव के अतिरेक में लुढ़का पड़ा था।

'मनु !' उसने उसे थोड़ी देर झिझोड़ा।

'क्या है ?' वह बुदबुदाया।

'रथ तैयार है। निशीथ हो गयी है। तुम जाओ।'

'नही, आज मैं नही जाऊंगा वासवदत्ता। अतृप्ति मे दहक रहा हूं। अमात्य-पुत्र को ऐसी अतृप्ति में जाने के लिए मत कहो।'

'मैं शयन कक्ष में जाती हू। तुम यहो···।'

मनु ने वासवदत्ता का हाथ पकड़ लिया। कहा—'यह अत्याचार है। इसकी प्रतिक्रिया असन्तोष को जन्म देगी और असतोष कभी-कभी प्राणी को अपराध की ओर भी अग्रसर कर देता है।'

'मैं विवश हू।' कहकर वासवदत्ता केलि भवन से बाहर निकल गयी और असंतोष की अग्नि मे दहकता हुआ मनु आसव पान करता रहा और कब वह पीते-पीते अचेत हो गया, यह वह स्वय नही जान सका।

२

प्रतीची के प्रांगण मे तिमिर का सम्पूर्ण पराभव हो चुका था और प्राची मे प्रकाश का उद्भव। प्रभात की स्वास्थ्यवर्धक समीरण मन्द-मन्द गति से प्रवाहित होने लगी थी।

गगन मण्डल में प्रातः आगमन का सन्देश सुनाने के लिए पक्षी उड रहे थे।

नगर वीथियों से व्यापारियों का आगमन हो रहा था।

धीरे-धीरे हल्का-हल्का कोलाहल धरती से उठकर नभ की ओर बढ़ रहा था।

नगर की सुप्रसिद्ध नर्तकी-गणिका वासवदत्ता के दर्शनीय भवन के सम्मुख से एक अत्यन्त सज्जित रथ ने प्रस्थान किया। उसमें नगर का सामन्त पुत्र मनु विराजमान था। उसकी पलकें अभी भी उनींदी थीं। तन के वस्त्र अस्त-व्यस्त थे, जिससे सहज ही इस बात का अनुमान लगाया जा सकता था कि मनु आज सदैव से तनिक, समय पूर्व प्रस्थान कर रहा है—श्रेष्ठ नगर की नागर नर्तकी के गृह से, क्योंकि वे प्रायः सज्जित होकर ही यहां से प्रस्थान किया करते थे।

मनु वासवदत्ता पर आसक्त था। उस पर सर्वस्व विसर्जन करने के लिए तत्पर था। आज से नहीं—पूरा एक वर्ष व्यतीत हो रहा था जब मनु ने वासवदत्ता को एक राजकीय उत्सव में नृत्य करते देखा था।

कितनी सलोनी व आकर्षक थी वासवदत्ता !

मनु उसे देखकर मुग्ध हो गया था, प्रथम दर्शन पर ही मोहित हो गया था पर तत्काल हृदय के समस्त उद्वेगों का शोषण करके वह शान्त बैठा रहा।

अन्तर में घोर अशान्ति थी और नयनों में आन्तरिक आकुलता।

मनु उत्कंठा से चाह रहा था कि नर्तकी उसे एक बार देखे, बस एक बार, केवल एक बार।

वह यौवनोन्मुखी नर्तकी केवल नृत्य कर रही थी—संगीत की मधुर स्वरलहरी पर, वाद्ययंत्रों के निर्देशन पर।

उस उपेक्षा से मनु तड़प उठा। अपने आप से कह बैठा—दर्भिनी !···

एकदम दर्भिनी निकली वासवदत्ता।

क्या करता मनु ?

सौन्दर्य, माधुर्य और चातुर्य की प्रतिमूर्ति वासवदत्ता कैसे चुम्बक के सदृश अपनी ओर आकर्षित करती जा रही थी।

लाचार हो उसने खांसा। सोचा—इस अशिष्टता के कारण वासवदत्ता उसे अवश्य देखेगी, चाहे सरोष ही।

पर पाषाण-हृदयी नायिका ने इस बार भी मनु पर दृष्टिगत

किया।

फिर मनु झुझला उठा—'निर्मोहिनी !'

पर वासवदत्ता अपनी ही तन्मयता में झूम रही थी—घुंघरु की झंकार पर।

सामत-पुत्र की आकुलता बढती ही गयी।

कार्यक्रम निश्चित समय पर समाप्त हो गया। नृत्य रुका। तालीवादन हुआ। मधुर कल्पनाओं व उधेड़बुनों मे खोया जन-समूह चौककर कह उठा—'सुन्दर, अति सुन्दर।'

और देखते-देखते उपहारो के ढेर लग गए—नर्तकी के चरणो पर। जैसे लक्ष्मी सौन्दर्य के चरणों में पडकर अपने को सौभाग्यशाली मानती है।

मनु विवेक-विस्तृत सा वासवदत्ता की ओर उन्मुख हुआ ! वासवदत्ता ने अपनी ओर आते हुए मनु को अर्थभरी दृष्टि से देखा—पूर्ण यौवन, सुन्दर, आकर्षक।

वासवदत्ता अनिमेप दृष्टि से देखती रही—उस युवक को और युवक भी चाहभरी दृष्टि से देख रहा था उसे।

समस्त दर्शकगण इस नाट्य-दृश्य को मौन होकर देख रहे थे।

सगीत-शास्त्री अबोध बालक की भाति उस युवक को वासवदत्ता के सन्निकट देखने लगे और वासवदत्ता भी उस युवक का इतने बडे जन-समूह के समक्ष निकटतम सामीप्य पाकर प्रस्तर-प्रतिमा की भाति जड़वत हो गई।

मनु ने अस्फुट स्वर मे कहा—'धन्यवाद !'—उसका मुंह वासवदत्ता के कपोल के निकट हो गया था—'श्रेष्ठ सुन्दरी ! अनुपम नृत्य करने और मधुर गीत गाने के लिए तुम्हें कोटिशः बधाइया !' और उसने वासवदत्ता का कोमल कर अपने कर में लेकर उसकी अगुली में एक अत्यन्त अमूल्य मुद्रा पहना दी।

एक क्षण पश्चात सारे मण्डप मे हलचल मच गयी।

वासवदत्ता स्वय सकोच मे गडी जा रही थी और नगर का सामन्त पुत्र मनु उससे हठात् बिलग होकर उत्सव-मण्डप से बाहर आकर अपने रथ पर आरूढ हो गया।

रथ चल पड़ा।
यह था उन दोनो का प्रथम मिलन—
नगर के सामन्त-पुत्र मनु का —
नगर की प्रसिद्ध गणिका वासवदत्ता से।

३

सांध्य-प्रदीप नगर के समस्त गृहों मे प्रज्वलित हो चुके थे।

शान्त होता हुआ कोलाहल अस्त होते सूरज की भांति एक बार सतेज हो करके कर्ण-कुहरो को अप्रिय-सा लगने लगा था।

कुछ प्रवासी व्यवसायी गाड़ियों पर माल लादे अपने-अपने लोक-गीत गुनगुनाते जा रहे थे।

काम से निवृत्त नगर का तरुण वर्ग उद्यानों एव भ्रमणीय-रमणीय स्थानो की ओर प्रस्थान कर रहा था।

मनु ज्योंही नूतन वस्त्र पहनकर गृह से भ्रमणार्थ बाहर जाने के लिए उद्यत हुआ त्योंही उसकी युवा पत्नी गृहलक्ष्मी ने विनयपूर्वक कहा—'स्वामी! आज साध्य-वेला बिना भोजन किए बाहर जाने का कारण ?'

'सुमुखि! विशेष कारण नही। आज तनिक मन उन्मन है अत' बिना भोजन किए ही बाहर जा रहा हू, शायद आज रात खाऊगा भी नही।'—एक अनिश्चितता थी मनु के स्वर मे और वह तुरन्त गृह से बाहर चला गया। गृहलक्ष्मी उसे शका भरी दृष्टि से देखती रही।

एक पल ही बीता था कि सारथी ने आकर नतमस्तक होकर कहा—'स्वामी ने कहलाया है कि आज उनका किसी मित्र के यहा जाने का कार्य-क्रम है, इसलिए वे रात को लौटेंगे भी नही।'

गृहलक्ष्मी ने विनयपूर्वक कहा—'मेरी ओर से आग्रह के साथ कहना कि रात को गृहस्थी का घर से बाहर रहना श्रेयस्कर नही होता है, फिर भी श्रीमत की अपनी इच्छा।'

सारथी उत्तर सुनकर चला गया।

रथ ने हौले-हौले प्रस्थान किया।

गृहलक्ष्मी ने आकर अपनी परिचारिका देविका को पुकारा।

देविका मनु की क्रीत दासी थी। आज से नहीं, जब वह आठ साल की थी तो मनु ने उसे क्रय किया था। जब वह अपने पिता से बिछुड रही थी, तत्काल वह सिसक-सिसक रोयी थी। पर आज तो उसके अंग-प्रत्यंग में यौवन टपक रहा था। तरुणाई की अरुणाई उसके कपोलों पर दीप्त हो गयी थी। उसकी प्रत्येक गति में एक अपना अनोखापन था। गृह-स्वामिनी के पुकारने का स्वर सुनकर वह भागी-भागी आयी। पूछ बैठी—'क्या है ?'

'आज तुम्हारे स्वामी रात को विलम्ब से आएंगे, न आने की भी सम्भावना है।''—स्वर में गहरी निराशा थी।

'ऐसा कभी हो सकता है ?' देविका ने अविश्वास प्रकट किया।

'हुआ तो नही पर होने के लक्षण दिखाई दे रहे हैं; क्योंकि मेरे हृदय में सन्देह के अंकुर उगे जा रहे हैं।'

'नारी जाति का हृदय ही सन्देहमय होता है। आप तो एक साधारण नारी हैं। स्वामिनी! बडी-बडी महासतियां और महादेवियां भी शंका-संदेह से नहीं बची हैं।'

'आज उनका मन भी अशान्त था ?' गृहलक्ष्मी ने फिर कहा।

'हो सकता है।'''पुरुष जाति है, संसार की अनेक चिन्ताएं लगी रहती हैं—वाणिज्य की, समाज की, धर्म की, देश की। पर आप व्यर्थ ही चिन्तित होती हैं। मैं कहती हूं, वे रात को आएंगे और अवश्य आएंगे।' —कहकर देविका तीर की भांति चली गयी। गृहलक्ष्मी उस ओर देखती रही, विचारती रही और अन्त में शनैः-शनैः चरण उठाती शृंगार-कक्ष की ओर चल पडी।

अपने पति की तनिक उपेक्षा से गृहलक्ष्मी आज अत्यन्त शंकाकुल हो उठी। बार-बार वह 'जनसम-दर्पण' के सम्मुख जाकर अपनी रूप छटा को निहारती थी, उस पर किंचित विवेचना करती थी फिर अपने मन में अपने मन की बातें कहने लगी—'विधाता की इस कृति में भी किसी प्रकार का अभाव नहीं, फिर भी अराध्यदेव की अप्रत्याशित-सी उपेक्षा'''ऐसा

क्यों ?' उसने अपनी ओर गर्व से निहारा।

चन्द पलों के उपरान्त वह तुरन्त शृंगार करने बैठ गयी।

आज उसने शृंगार मे देविका का भी सम्बल लेना उचित नही समझा। वह स्वयं बडी चतुराई से अपना शृंगार कर रही थी जैसे आज के इस शृंगार मे एक रहस्यमय सार निहित है। शीश से लेकर नख तक उसने बेजोड शृंगार किया।

उस अनुपम रूप मे वह नव परिणीता-सी लगने लगी।

अपने पति को अपने यौवन पर विमोहित करने के लिए उसने अपनी कंचुकी को और कस लिया था।

एक बार उसने पुनः दर्पण मे देखा।

यौवन स्वयं बोलने लगा था।

मानिनी कामिनी की भांति वह सभल-सभलकर चरण उठाती शयन-कक्ष के द्वार पर खड़ी होकर मनु की प्रतीक्षा करने लगी।

रजनी रानी तारों की चुनरी ओढे अपने मुख चन्द्र को घन-घूघट मे छिपाने की क्रीडा कर रही थी।

वातावरण शून्य और शान्त होता जा रहा था।

पुतलियों पर पलकें-रूपी आवरण बरबस छाता जा रहा था। कभी-कभी वह निमिष भर के लिए सो भी जाती थी; लेकिन सुप्तावस्था में ऐसे चौंक पडती थी जैसे उसकी सुखद निद्रा मे किसी निर्दयी ने जोर का आघात कर दिया हो।

निशीथ—बेला मे वह उठी और प्रकोष्ठ में चहलकदमी करने लगी। रह-रह उसके मानस-पटल पर मनु की अलौकिक छवि नाच उठती थी।

और मनु···?

गृह से प्रस्थान करने के पश्चात् उसका रथ सीधा नर्तकी के विशाल भवन के समक्ष रुका।

नर्तकी वासवदत्ता वातायन मे बैठी-बैठी राज-पथ का आवागमन देख रही थी। आज उसने पुष्प-शृगार कर रखा था। रथ के रुकने के क्रम को देख करके उसने परिचारिका को आज्ञा दी कि वह सामन्त श्री को सम्मान सहित भीतर ले आए और स्वयं तोरण-द्वार की ओर उन्मुख हुयी—उनके

स्वागत हेतु ।

मनु ने प्रवेश करते ही भव्य-भवन की सजावट को देखा और तत्पश्चात् रूपागार वासवदत्ता को। वह मनु के समक्ष सकोच मे गडी जा रही थी।

दोनो एक-दूसरे को कुछ क्षण के लिए देखते रहे—अप्रतिभ से विमोहित से।

वासवदत्ता को प्रतीत हुआ कि उसके समक्ष स्वयं 'काम' खडा है, रति-पति अनग-सुडौल, सुन्दर और सलौना।

न जाने क्यो वासवदत्ता की पलकें धरती की ओर झुक गयी। प्रणाम के लिए कर आबद्ध हो गए। सकेत भीतर प्रविष्ट करने का हुआ। मनु ने यथवत् भीतर प्रविष्ट किया।

गद्दे पर आसीन होते हुए मनु ने मौन भग किया—'पहचानती हो श्रेष्ठ गणिके हमे ?'

'जी श्रीमन्त ! राजकीय-उत्सव मे यह मुद्रा आपने ही पहनाई थी।' उसका सकेत अगुली की ओर था।

'यह भी जानती हो कि हमने यह मुद्रा तुम्हे क्यो पहनाई थी ?' मनु की आखो मे एक परिचित प्रश्न और उसका उत्तर दोनो थे, तो भी वासवदत्ता के मुखारविन्द से सुनने हेतु उसने ऐसा पूछा।

'रूप पर आसक्ति ?'—थोडा कहकर वासवदत्ता मनु के समीप बैठ गयी। मनु ने टेढी भौहे करके वासवदत्ता को देखा—वासवदत्ता अपने हाथ की हस्त-रेखा को ध्यान मग्न-सी देख रही थी।

'आसक्ति क्यो कहती हो ? क्या प्रेम से नही ?'

'प्रेम का प्रादुर्भाव इतना सहज नही है श्रीमन्त ?···और आसक्ति तो आकर्षण का प्रथम चरण है। आपने मुझे समारोह मे एक दृष्टि भर को देखा और उस पर आपने अपना कौटुम्बिक गौरव विस्मृत करके भरी सभा मे यह मुद्रा पहनाई।···मैं पूछती हू कि आपने ऐसा क्यों किया ?'—एक आग्रह था उसके स्वर मे।

'प्रेमवश।'—छोटा-सा उत्तर दिया मनु ने।

'आप जैसे भद्रजन के लिए मिथ्या-भाषण शोभनीय नही लगता ! श्रीमन्त ! कविवर राहुल ने कहा है—प्रेम वही है जो निर्द्वन्द्व, निष्काम,

निर्विकार और निर्विषय हो और आप मेरे यहा हृदय मे उठते झझा की तृप्ति के लिए नही आए हैं ?...सच बताइए कि आप मेरे इस अनुपम सौन्दर्य की जीवन भर अर्चना करेंगे ?...कदापि नही।'—वासवदत्ता की वाणी में दृढता के साथ-साथ गम्भीरता का भी समावेश हो गया।

मनु कुछ विचलित हुआ।

वार्ता तूल न पाए इस वास्ते विषय को परिवर्तित करता हुआ मनु बोला—'रूपसी !'

'रूपसी !' चौंक पडी वासवदत्ता।

'हा, मैं तुम्हें भिन्न-भिन्न नामों से पुकारना चाहता हू। इससे मुझे आनन्द की अनुभूति होती है।'

'नगर के प्रतिष्ठित सामन्तो, सेट्ठिपुत्रो व अमात्यो को आनन्दित करना मेरा धर्म है।'—स्पर्श किया वासवदत्ता ने।

मनु रोमाचित हो उठा। अपनी कम्पनमयी वाणी पर तनिक आधिपत्य जमाता हुआ मनु बोला—'रात व्यतीत हो रही है गणिके, अपने धर्म का पालन करो ?'

'इस सेविका को स्मरण है। प्रारब्धवश जिस दशा मे हू उसी दशा के धर्म को मैं पूर्ण रूप से पालन करने को तैयार हू। आज्ञा दीजिए श्रीमन्त ?' —वासवदत्ता नत मस्तक हो गयी।

'मैं आसव चाहता हू!'—मनु ने समीप पडे सुरा की ओर सकेत करके कहा—'एक चषक भरकर दो, कोई मनोहारी नृत्य दिखाओ; ऐसा नृत्य जो मेरे हृदय-कुसुम को विकसिकत कर दे।'

वासवदत्ता ने मुस्कान के साथ आस-चषक मनु के कर मे थमा दिया। पल भर के लिए वह मनु के सन्निकट बैठी। उसके तन से मनु के कर का स्पर्श हुआ। मनु का मन विचलित हो गया। हठात् उसने वासवदत्ता को अपनी ओर खीच लिया।

वासवदत्ता भयभीत-सी स्थिर नयनों से उसको देखने लगी।

मनु के हृदय मे मची हुई घोर अशान्ति से वह भली-भाति परिचित थी। वह अच्छी तरह जानती थी कि यहा पर आने वाला प्रत्येक प्राणी सर्वप्रथम इसी भाति प्रेमाभिनय करता है और वासना की तृप्ति के अनन्तर

उसके दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं। अत: अपने को सम्भालती तथा मनु को सचेत करती हुई वह बोली—'मर्यादा का उल्लघन अच्छा नहीं है श्रीमन्त ! मैं आपके लिए अभी नृत्य कर सकती हू, केवल नृत्य।'

'नहीं रूपसी !—मनु की विकल आंखों में मनुष्य की दुर्बलता जाग पड़ी—'मैं तुम्हें मुंह मांगा धन दूगा।'

'एक ही बार, लेकिन एक बार में इस पापी पेट की क्षुधा क्या शान्त हो सकती है ? वासवदत्ता की वाणी में ज्वाला-सी तपिस थी।

'मैं तुम्हें प्यार करता हू।'

'इतना शीघ्र धन से सौदा करने वाले प्यार नहीं कर सकते। यदि वे ऐसा कहते है तो मिथ्या कहते हैं।···श्रीमन्त ! धन 'मन पर विजय नहीं कर सकता।' उसके लिए कुछ चाहिए ?'

'कुछ क्यों ?···आज्ञा करो रूपसी ! तुम्हारी प्रत्येक अभिलाषा निमिष भर में पूर्ण कर देता हू। आज्ञा करो !'

मनु की विकलता बढ़ती ही जा रही थी। वासना की घनीभूत छाया बनाए उसके चक्षु नर्तकी से कुछ माग रहे थे।

'आज्ञा का पालन करेंगे श्रेष्ठवर ?'—

'सन्देह करना तुम्हारा अपराध है और मेरा अपमान।'

'आप मुझे वचन देंगे ?'

'दिया।'

'श्रीमन्त, आप इसी पल यहां से चले जाइए। मैं एकान्तवास चाहती हू।'—वासवदत्ता ने आज्ञा दी।

मनु के पांवों के नीचे की धरती खिसक गयी। नयन औसतन आकार से और बड़े हो उठे। पुतलिया नितान्त स्थिर हो गयी।

मनु अपने आप ही कह उठा—'कितनी असह्य आज्ञा है !' इस आज्ञा से मनु की भावनाओं पर आघात लगी। पीड़ा से तिलमिलाते रुग्ण व्यक्ति की भांति उसने बोलने के लिए अपनी जिह्वा को खोलना चाहा, पर वासवदत्ता ने अपना बाया हाथ फैलाकर कहा—'श्रीमन्त वचनबद्ध हैं आप !'

'हमें अपनी प्रतिज्ञा स्मरण है।'

'मैं भी यही आशा रखती हूं।'

मनु तुरन्त बाहर जाने लगा। वह दो डगर चला ही था कि पुनः लौटकर आया और अपना 'गल-हार' वासवदत्ता को पहना दिया।

रथ पुनः जिस ओर से आया था, उसी ओर चला।

राज-पथ पर घोर अंधेरा था और उस अंधेरे में अवश मन लिए मनु समुद्र की लहरों की सदृश कितने ही संकल्प-विकल्प लिए अपने गृह की ओर प्रस्थान कर रहा था। एकदम हताश और एकदम विक्षुब्ध।

•

४

रथ मनु के गृह द्वार पर रुका।

प्रहरी ने अभिवादन के साथ द्वार खोला।

मनु शकाकुल प्रविष्ट हुआ।

सारा वातावरण मौन था। सौरभ से महक रहा था।

शयन-कक्ष में अभी भी प्रकाश जगमगा रहा था।

मनु उसी ओर चल पड़ा। कक्ष के प्रकोष्ठ में गृहलक्ष्मी अशान्ति में चहलकदमी कर रही थी। मनु की पद-चाप सुनकर वह भावातिरेक होकर उसके चरणों में जा गिरी। उनके नयनों से अश्रुस्राव होने लगा। उसके अन्तर में मार्मिक वेदना है, ऐसी उसकी आकृति की निगूढ़ वेदना से लग रहा था।

गृहलक्ष्मी को अपने दोनों हाथों से उठाते हुए मनु ने पूछा—'क्या बात है कल्याणी?'

'मैंने पाप कर लिया है मेरे प्रभु!' अनुनय के साथ गृहलक्ष्मी ने कहा—'पाप भी ऐसा, जो सबसे हेय समझा गया है—मनसा।'

'मैं समझा नहीं कल्याणी, स्पष्ट में कहो।' मनु ने उसे सात्वना दी।

'मैंने आप पर सन्देह किया था।'

'मुझ पर?'—विस्मय से पूछा मनु ने।

'हां आपके चरित्र पर।'

'मेरे चरित्र पर, क्यों, किसलिए कल्याणी?'

'सच कथन पाप का प्रायश्चित माना गया है।' उसने कुछ रुककर कहा—'मैंने आपके प्रस्थान करने के पश्चात् इस बात का अनुमान लगाया कि आप गणिका के यहां गए हैं क्योंकि आप उस पर आसक्त···।'

बीच मे ही बात को काटता हुआ मनु संयत स्वर मे बोला—'सन्देह सही है प्रिए! आज मैं गणिका के यहा ही गया था, नगर की श्रेष्ठ गणिका वासवदत्ता के यहा।'

'नाथ!' तड़प उठी गृहलक्ष्मी। उसे रोष आया अपने पति पर, समस्त पुरुष जाति पर। सोचने लगी—कैसे छली हैं ये पुरुष?···प्रवंची, हृदयहीन और पाषाण!

'यह क्यों?' गृहलक्ष्मी ने प्रकट होकर हठात् पूछा।

'मेरी इच्छा!' हठात् उत्तर दिया मनु ने।

'और मेरा अधिकार?'

'धार्मिक गठबन्धनों के आधीन है। स्त्री केवल आज्ञाकारिणी होती हैं। उसके अधिकारों की एक परिधि होती है। परिधि के बाहर उसका कोई अस्तित्व नहीं, कोई गणना नहीं।' मनु रुखाई से बोला।

'पर यह पथ पतनोन्मुखी है। धर्माचरण विरुद्ध है।'

'मैं जानता हूं। मुझे समझाने की कोई आवश्यकता नहीं।' मनु ने रुककर तुरन्त कहा—'तुम्हें अत्यधिक अधिकार की लिप्सा दर्भित कर रही है···तुम तो गृहलक्ष्मी हो, गृह की शोभा हो, मानमर्यादा बनकर रहो। पुरुष की स्वतन्त्रता को सीमाबद्ध करने का प्रयत्न न करो। उससे कटुता जरूर बढ़ेगी पर पाओगी कुछ नहीं।' मनु एक दार्शनिक के स्वर में बोला।

'उपदेश ग्राह्य है पर मैं भी अपने अन्तराल के भावों को प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझती हू।' गृहलक्ष्मी और सजग हो गयी—'जिसके सग से सत्य, पावनता, करुणा, मौन, विवेक, श्री, सकोच, कीर्ति, क्षमा और सौभाग्य का नाश होता है ऐसी नारी का सग बुद्धिमानों का काम नहीं।'

'शलभ निठुर लौ की प्रीति मे परिचित होकर भी उसके अंक मे अपने प्राण उत्सर्ग कर देता है, ऐसा क्यों?'

'अज्ञानवश !'

'मुझे भी तुम ऐसा ही समझ लो।'

'कैसे समझ लू ?···शलभ और मनुष्य का अन्तर तो दृष्टि ओझल नही किया जा सकता। मनुष्य मेधावी होता है। उसे भले-बुरे का ज्ञान होता है।'

'उसकी मेधा वातावरण मे नवीनता चाहती है। उसका ज्ञान एक नूतन तृष्णा को अपने मे समाए रहता है और वह तृष्णा बावरी होती है।'

'जो प्राणी विषय-तृष्णा के आधीन है, उसके सकेत पर नाचता है। वह पुरुष मदारी का वानर होता है।'

इस व्यग्य ने मनु पर गहरा आघात किया। मनु तीव्र स्वर से बोला—'गृहलक्ष्मी ! नर और नारी के आवर्तन भिन्न-भिन्न होते है। पुरुषो को, विशेषकर आभिजात्य वर्ग के पुरुष को भोग-विलास करने का पूर्ण अधिकार है, परम्परागत स्वत्व है। ··तुम पत्नी हो, और पत्नी होकर पति को शिक्षा देने का दुस्साहस करना क्या अपराध नही ?'

'हो सकता है; लेकिन मैं आपकी पत्नी हू, सहधर्मिणी हू, मित्र हू और सच्चा मित्र वही हो सकता है जो अपने मित्र के अवगुणो को दर्पण के समान यथार्थ रूप मे बता सके और मेरा·· ?'

'तुम्हारे उपदेश की मुझे कोई आवश्यकता नहीं है।' झुझला उठा मनु—'भूल तो मैंने की कि तुम्हें सच-सच बता दिया अन्यथा तुम्हे मैं एक मिथ्या भ्रम मे सदैव रख सकता था।'—पश्चात्तापजनित आवेश में कांप गया मनु।

गृहलक्ष्मी ने थोड़ी देर तक मनु के मुख के भावों को पढ़ा। उसने सोच लिया कि यदि वह मनु की इस बात की ओर कटु-व्यंग्य आलोचना-प्रत्यालोचना करेगी तो इसका परिणाम अकल्याणकारी होगा। मनु आभिजात्य वर्ग का लाडला बेटा है अत. नारी की [illegible] बात है। नारी इसके लिए मात्र भोग्या है [illegible] स्थिति के मग अपने को छोड़ने का [illegible] [illegible] देखेगी, समझेगी ?—[illegible]

फिर भी एक दार्शनिक की भाँति [illegible]

पुन बोली —'मन-ही-मन का बाधक होता है, मन ही मन का साधक होता है, मन ही मन का बाधक होता है, मन ही मन का घातक होता है।···मन को बाधने का प्रयास कीजिए; उसमे ही कल्याण है। मैं तो आपके चरणों की दासी हू, रज हू, मेरा क्या···?'

वह उठी।

एक बार उसने अपने मद्य स्नात हिम-धवल प्रभापुंज सम गात को देखा, उत्पल के सदृश दीर्घ कजरारे नयनों को निरखा, अतृप्त अधरों पर आशंका की शुष्कता को पहचाना और धीरे से चरण उठाती अपनी सुख-शय्या की ओर बढ़ गयी।

मनु एक असन्तोष लिए उसे देखता रहा। वह अन्तर्ज्वाल मे जल रहा था।

५

प्रेम!

जीवन की महानतम निधि जिसे प्राप्त करके प्राणी आतरिक सुख पाता है।

तत्वज्ञानियों, सन्तों व अनेकानेक महान् पुरुषों ने प्रेम को सर्वोत्तम स्थान प्रदान किया है—जप, तप और वैराग्य से सुनती हू, जहा प्रेम से प्रभु-पुकार होती है, वहा ईश्वर को आना ही पडता है।

आशावादी प्रेमी कहते हैं—प्रेम मे जो तडपन है, व्यथा है, विकलता है और रोदन है, वे सब प्रगाढ़ प्रीति के भावानुभाव है। प्रेम के आसू वर-दान होते हैं।

मुनीषियो ने कहा है —प्रेम की स्थिति एक-सी रहती है, उसे प्रतिक्षण अपने प्रिय से मिलने की छटपटाहट होती रहती है। वह सदा अतृप्त ही बना रहता है। प्यारे के सिवा उसे कोई नही भाता।

असफल प्रेमी हृदय को धैर्य देने के लिए उपदेश के रूप में प्रेम की

व्याख्या करता है—प्रेम सदा ही सहिष्णु और मधुर होता है। प्रेम ईर्ष्या नही करता, आत्मश्लाघा नही करता, गर्व नही करता, दुष्टाचार नही करता, शीघ्र क्रोध नहीं करता, कुछ बुरा नही मानता, सदा सुखी रहता है।

राहुल अपनी कविता मे कहता है—प्यार की एक भी चिनगारी किसी के हृदय में पड जाय, उस हृदय को निहाल समझना चाहिए, पर यह चिनगारी बड़ी निर्दयी होती है। सरलता से उर मे सजग नही होती। इसे प्रज्वलित करने के लिए कठोर साधना की आवश्यकता पड़ती है, महान् त्याग की अनिवार्यता होती है।

प्रेम शब्द तो है एक।
व्याख्याएं उतनी जितने मस्तिष्क ?
अद्भुत जंजाल !
जटिल समस्या !!

लेकिन ··?—वासवदत्ता ने अपने विस्तरे पर करवट लेते हुए मन-ही-मन कहा—'लेकिन मेरा अपना मत है कि प्रेम एक वासना हैं, ज्वलित वासना···बस।'

इतनी देर तक सोचने के पश्चात् वासवदत्ता अनमनस्क-सी उठी और राजपथ वाले प्रकोष्ठ में आकर खडी हो गयी।

रजनी विलास के सागर मे तैरती हुई नगरी से अवतरित हो रही थी। राजकीय-प्रकाश-स्तम्भ के प्रकाश से पथ आलोकित हो रहा था। उस आलोक में आवागमन करते हुए यात्रियो की आकृतिया स्पष्ट रूप से दृष्टि-गोचर हो रही थी। वासवदत्ता आज आकुलता के साथ किसी की प्रतीक्षा कर रही थी। उसके प्रतीक्षा-रत बावरे नयन देख रहे थे—दूर, बहुत दूर, बिलकुल दूर। उसे राहुल की बातें स्मरण हो उठीं और स्मरण हो उठा उससे उसका प्रथम मिलन।

उसी दिन एकाएक उसे अपने प्रहरी का तीव्र स्वर सुनाई पड़ा—'भद्रजन ! यहां केवल आभिजात-वर्ग ही प्रवेश कर सकता है। जन-साधारण के लिए साधारण गणिकाए होती हैं। यह तो नगर की प्रतिष्ठामयी नगर-वधू की अट्टालिका है।"

'जानता हू मैं, लेकिन आभिजात्य-वर्ग की पहचान—सुन्दर रथ और

चमकदार वस्त्र तो नहीं होते है ? प्रत्येक प्राणी अपने हृदय की विशालता व उदारता से भी महान् होता है ।'

'यहां धन का विशेष महत्त्व है। सम्पत्तिहीन प्राणी का यहां सत्कार सम्भव नहीं।

'सम्पत्ति!'—राहुल दर्प से बोला, 'मेरे पास वह सम्पत्ति है, जिसकी समानता तुम्हारे नगर के समस्त सेठ्ठिपुत्र और सामन्तगण भी नहीं कर सकते। समझे?'

'दृश्य और श्रव्य में अन्तर होता है?'

'चर्म और कर्म में भी अन्तर होता है?'

'तात्पर्य?'

'काग-नीड़ में पिक शिशु रहने से वह काग नहीं बनता। अस्वच्छ वस्त्र पहनने से ही मनुष्य की श्रेष्ठता और महत्ता कम नहीं होती!"— क्रोध से वक्र दृष्टि करके राहुल सरोष बोला—"जाओ, अपनी अभिमानिनी स्वामिनी से कहो कि कोई ब्राह्मण-पुत्र तुमसे भेंट करना चाहता है।' राहुल आज जान-बूझकर साधारण भेष में आया था।

प्रहरी भीतर गया।

आगन्तुक विचार-मग्न-सा तोरण-द्वार की सीढ़ी पर चहलकदमी कर रहा था। प्रहरी ने आकर अभिवादन के संग विनम्रता से कहा—'श्रीमान्! देवी की आज्ञा है कि आप ससम्मान सम्मुख लाए जाए। ऐसे योग्य व वाक्-पटु युवकों का मैं हार्दिक सम्मान करती हूं।'

आगन्तुक के अधरों पर व्यंग्यात्मक हंसी दौड़ पड़ी—'राजकीय पद्धति का अनुसरण कर रही है गणिका! और क्यों न करे? समय है, समय सर्वस्व कराता है।'

सीढ़ियों को पार करके वह वासवदत्ता के अद्भुत शयनागार में आया। दोनों की दृष्टि टकरायी।

अल्पकाल के लिए दोनों निश्चल हो गए। एक-दूसरे के सौन्दर्य का रसास्वादन करते रहे—मन्त्र-मुग्ध से।

एक पल, दो पल और तीसरे पल वासवदत्ता के होंठ अनायास ही फड़क उठे—'कितना सुन्दर है?'

'क्या कहा ?'—तुरन्त पूछा राहुल ने ।

'मैंने ? मैंने कुछ नहीं कहा ।'

'तो फिर किसने कहा ?'

'मन ने ।'

'क्यों ?'

'मोहित होकर ।'

'बड़ा चंचल है ?'

'अवश्य !'

'बड़ा रसिक है ?'

'होना ही चाहिए ।'

'बड़ा आतुर है ।'

'अवश्य !'

'शीघ्र पतनगामी होगा ।'

'क्या कहा ?'—सावधान होती हुयी वासवदत्ता बोली ।

'जो मेरे मन ने चाहा, मन पर किसी का अधिकार नहीं होता ।'—अपनी पीठ को उसकी ओर करते हुए नवागन्तुक तरुण ने कहा । वासवदत्ता उसके चातुर्य पर रीझ गयी—युवक अत्यन्त कुशाग्र बुद्धिवाला है ।

'तरुण ! आपका शुभ नाम ?'

'तुम जानती नहीं हो ?'

'नहीं ।'—वासवदत्ता ने विनम्रता से कहा और उसे बैठने का संकेत किया—'आप आसन ग्रहण कीजिए ।'

'मेरे विचार से तुम मुझे जानती हो, यदि मस्तिष्क पर दबाव डालो तो जान जाओगी कि मैं कौन हूँ ?'—तरुण बैठ गया ।

'क्यों रहस्य बना रहे हैं, आप ?'

के समस्त द्वार खुल गए। आज ही मैंने आपको स्मरण किया था और आज ही आप आ गए इसलिए आपकी आयु दीर्घ है और मैं भगवान से यही प्रार्थना करूगी।'

'यह प्रार्थना शुभ नही। अधिक जीने वाले अधिक पाप करते हैं, अतः व्यक्ति को उतना ही जीना चाहिए, जितना वह अच्छे आचरण के साथ जी सके।'— राहुल के अधरो पर हल्का उपहास था।

वासवदत्ता अभी तक उसे चाह-भरी दृष्टि से देख रही थी। राहुल अपनी गम्भीर दृष्टि से सज्जितशयनागार को देख रहा था। एकाएक उसने मौन भग किया—'मैंने एक गीत की रचना की थी। गीत का शीर्षक था—'कल्पना की रानी'। कल्पना की रानी का रूप-यौवन स्वर्गीय है। मैं उस कल्पना को साकार रूप में देखना चाहता था। उस साकार रूप-दर्शन के लिए मैं सर्वत्र स्थानों मे घूम आया, पर सिवाय निराशा के कुछ भी नहीं मिला। अचानक मैंने तुम्हें एक उत्सव में देखा, जिस उत्सव में तुमको एक सामन्त-पुत्र ने स्वर्णमुद्रा पहनायी थी। मैं चला आया—सर्वांग सुन्दरी के सौन्दर्य को निरखने। अपनी कल्पना का मूर्त रूप देखने।

'फिर आज्ञा दीजिए।'—वासवदत्ता ने ऐसा दृष्टि-संकेत किया कि राहुल रोमांचित हो उठा।

'मेरे समक्ष तुम अपनी सर्वश्रेष्ठ मुद्रा में बैठ जाओ।'

'क्यो?'

'मैं तुम्हारा नश्वर किन्तु अद्वितीय रूप-दर्शन करना चाहता हूं।'

'रूप-दर्शन!'—विस्मय से नयन विस्फारित किया वासवदत्ता ने और एक उल्लास की अगड़ाई ले बैठी।

'प्रत्यक्ष-दर्शन से कल्पना में सत्य आता है। मेरे गीतों में निखार आ जाएगा, श्रोता सुनकर मन्त्र-मुग्ध हो जाएगे। रूपसी! यह सम्बल मेरी कविता में प्राणों का संचार कर देगा।'—यह थी राहुल की भावुकता।

'मैं तो क्या, समस्त नगरवासी आपकी प्रतिभा का लोहा मानते हैं। सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् की भावना लिए आपकी प्रत्येक कृति जीवन को नूतन प्रेरणा देती है। मैं प्रायः सुना करती हूं—आपकी प्रत्येक कृति मे चिन्तन रहता है, मनन रहता है और उनके सग-संग संगीत की हृदयवेधक लय।'

वासवदत्ता यह कहकर राहुल के समीप आकर बैठ गयी। राहुल अपनी भूरि-भूरि प्रशंसा सुनकर मानव-दुर्बलता के अधिकार में आ गया। अपनी रचनाओं की स्वयं प्रशंसा करता हुआ बोला—'तुम्हें विदित नहीं होगा कि मेरी कविता 'जीवन-नश्वर' पर आचार्य उपगुप्त ने स्वयं कहा था—रचना अत्यन्त उत्कृष्ट है। कवि में प्रतिभा के साथ-साथ सुन्दर अभिव्यक्ति की भी शक्ति है। जीवन का दर्शन सही रूप में चित्रित करने की क्षमता है। कभी मैं उससे भेंट करूंगा।'

"यह उपगुप्त कौन है ?'—वासवदत्ता ने झट से पूछा।

भिक्षु शाणकवासी का परम स्नेह-पात्र शिष्य ? गुणी, त्यागी और वक्तृत्व कला के सम्राट ! तुम जानती नहीं हो कि जब वे ओजस्वी वाणी में भाषण देते हैं तो श्रोता अपने आपको विस्मृत करके उनके पीछे खिंचे चले जाते हैं।'—राहुल शय्या पर कुछ सुख से बैठता हुआ अनवरत कहे ही जा रहा था—'मुझे भी उनका भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनकी प्रभावोत्पादक वाणी के समक्ष मेरे गीत शून्य के बराबर हैं।'

'और उनका रूप ?'—वासवदत्ता की जिज्ञासा बढ़ी।

'रूप !···सूर्य-सा तेजस्वी।'

वह उठती हुई मद्धिम स्वर में बोली—'ब्रह्मा का निर्माण-वैचित्र्य देखकर आश्चर्य करना पड़ता है, अस्तु। कविवर ! अब मैं आपकी इच्छा पूर्ति करती हूं। अपनी सर्वश्रेष्ठ-सर्वोत्तम मुद्रा में खड़ी होती हूं, जी भरकर रूप-दर्शन कर लीजिए।

वासवदत्ता अपने शृंगार-कक्ष में गयी। अपने रेशमी झीने आंचल को उरोजों पर एक आवर्त देकर कटि प्रदेश पर लहराने के लिए छोड़ दिया। कंचुकी को और कसा। कुन्तलों को तनिक अस्त-व्यस्त करके तनकर खड़ी हो गयी। फिर वह वहां से आकर राहुल के समक्ष खड़ी हो गयी।

मुद्रा कामोत्तेजक थी।

राहुल देखता रहा—एकटक।

वासवदत्ता मुस्कराती हुई बोली—'कविराज ! रूप-दर्शन करते-करते मन का पाप न कर बैठिएगा।

'मेरे विचार इतने निर्बल नहीं हैं।'—राहुल मुस्करा रहा था।

'वह्नि समक्ष कनक अवश्यमेव गलता है, यह चिरंतन सत्य है।'

'मेरे सिद्धान्त किसी को भी चिरन्तन नही मानते।

'सबसे पृथक हैं आपके सिद्धान्त ?'

'विद्वान स्वयं अपने सिद्धान्तों के निर्माता होते है।'—राहुल उसे देखता रहा—अब मैं प्रस्थान करना चाहता हूं। मैंने अपने मन की आशा पूर्ण कर ली।'—राहुल उठने लगा।

'इतनी शीघ्र पूर्ण कर ली, आश्चर्य है ?'

'वार्त्तालाप मे समय का ज्ञान नही रहता। मुझे आए हुए बहुत काल हो गया है।'

'तनिक और ठहरिए। अभी तक आपने मेरे रूप का दर्शन किया है और अब मैं आपके रूप का दर्शन करूंगी।'

'मेरे रूप का ?'

'हां कविराज !'—वासवदत्ता मधु-चपक लेने के लिए अग्रसर हुई। परिचारिका ने आकर निवेदन करने के लिए अपने अधरों को खोलना चाहा कि वासवदत्ता ने तुरन्त उसे रोक दिया—'मैं आ रही हूं।'

राहुल इस नाट्य को नही समझ सका। कुछ अनुमान लगाने के प्रयास मे था।

बाहर खड़ा था मनु।

वासवदत्ता उसे अन्य कक्ष मे बैठाकर राहुल के समीप आयी। राहुल उस समय विचार-मग्न बैठा था। वासवदत्ता की पदचाप सुनकर बोलना चाहा कि वासवदत्ता दर्प से बोल उठी—'कविराज ! अब आप यहां से सहर्ष प्रस्थान कर सकते हैं। मुझे कोई आपत्ति नही।'

राहुल ने भेदभरी दृष्टि से वासवदत्ता को देखा और तोरण द्वार की ओर बढ़ गया—एक प्रश्न लिए।

६

आज मनु ने वासवदत्ता के चरणों में स्वर्ण-मुद्राओं को ढेर लगाते हुए एक नवीन प्रस्ताव रखा—'रूपसी ! आज हम जल-विहार करने चलेंगे।'

प्रस्ताव अत्यन्त सुन्दर था। अतः वासवदत्ता ने स्वीकारोक्ति दे दी—'श्रीमन्त, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।'

मनु का अन्तराल वासवदत्ता की स्वीकारोक्ति सुनकर मग्न हो गया। वासवदत्ता का कर स्पर्श करता हुआ बोला—'प्रिय ! चलो, अबेर करना अच्छा नहीं है।···आज तुम्हें ही अपनी 'शिबीका' पर चढ़कर सरिता-कूल तक ले जाना पड़ेगा।'

'क्यों, आपका रथ कहां है?'

'मेरा सारथी आज ज्वर से पीडित है और अन्य सारथी मुझे पसन्द नहीं है।'

'कोई बात नहीं, मैं अभी परिचारिका को पुकार वाद्य वादकों को तैयार होने के लिए कहलाती हू।'

'क्यों,···वाद्य यन्त्रवालों की क्या आवश्यकता है?'—किंचित सहमते हुए मनु ने कहा—'हम एकाकी चलेंगे।'

'एकाकी!' - वासवदत्ता ने भय से नयन विस्फारित कर दिए—आशंका से बोली, 'मैं एकाकी कैसे चल सकती हू?'

'भय किस बात का?'—तुम्हारे पर किया गया अनाधिकार अपराध समान है। तुम्हारी इच्छानुकूल ही मैं प्रत्येक कार्य करूंगा, विपरीत नहीं, ऐसा तुम्हें विश्वास रखना चाहिए।' मनु ने कहा—'आज नभ में प्रमोदमयी शीतल शुभ्र चांदनी छिटक रही है, हमें शीघ्र चलना चाहिए।'

'लेकिन मैं एकाकी नहीं चल सकती।'—उसके स्वर में स्पष्ट अस्वीकृति थी।

'क्यों रूपसी? मस्तिष्क पर बल देकर विचार करो कि एकाकीपन में कितना आनन्द रहेगा। निशीथ की नीरवता में लोल-लहरों पर मृदुल लास करती हुई अपनी तरणी जब हौले-हौले चलेगी तो हमारी आत्माएं महान् सुख का अनुभव करेंगी।···हम होंगे और हमारे हृदयों की मधुर धड़कनों

का मीठा सगीत होगा।···चलोगी न एकाकी ?'

'नही तरणी मझधार में पहुच जाए और मैं मधुपान से मदोन्मत्त होकर जल मे कूद मरू तो···?···नही-नही, मैं ऐसी भयानक विपत्ति नही उठा सकती, कदापि नही उठा सकती,···मनु मैं एकाकी नही चल सकती।' वासवदत्ता ने अपने मन के अभिप्राय को छिपाते हुए कहा।

वह सामन्तो व सेट्ठि-पुत्रो के हृदय में निहित पतित विचार से परिचित थी। वह भलीभाति भिज्ञ थी कि मनु उसे एकान्त मे ले जाकर अपनी वासना की तृप्ति करना चाहता है और उस तृप्ति के पश्चात् सन्तोष पाकर उसने सदैव के लिए सम्बन्ध-विच्छेद कर लेगा। यदि उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो गया तो उसे उसकी सम्पत्ति से हाथ धोना पड़ेगा। अतः मनु को जहा तक हो सके अतृप्त रखा जाय, एक असन्तोष की ज्वाला मे उसे जलने दिया जाय।

'विना सगीत सुन्दर नृत्य सभव नही और विना नृत्य भ्रमण की कोई सार्थकता नही, अत. इन्हे अपने साथ लेना ही पड़ेगा।'—वासवदत्ता ने दृढता के साथ परामर्श दिया।

'मुझे सगीत और नृत्य का कोई मोह नही है।'

'तो तुम्हें किसका मोह है ?'

'केवल तुम्हारा, अपनी प्रेम-प्रतिमा का।'—कहकर मनु वासवदत्ता की ओर उत्सुकता से निहारने लगा, इस आशा से कि इस प्रकार की घोषणा मे वासवदत्ता अनिवार्य रूप से प्रसन्न होगी, लेकिन उसकी मुखाकृति पर किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नही हुई। वह पूर्ववत् स्वर में बोली— 'तो जल-विहार की कोई अनिवार्यता नही, इस प्रकोष्ठ के सब द्वार बन्द कर लिए जाए। मैं एकाकी, तुम एकाकी···बोलो कितना आनन्द रहेगा?'—मीठी चुटकी ली रूपसी ने।

'तुम समझती क्यों नही ?'—मनु झुझला उठा।

मैं सब समझती हूं, श्रीमन्त ! मुझे समझाने की आवश्यकता नही, सच पूछो तो मैं स्वय सम्पूर्ण समझ हू।' वासवदत्ता का स्वर गम्भीर था।

ससृति पर निविड़ तिमिर छा चुका था। तारो के धुधले प्रकाश में राजप्रासाद की पताका फहराती दृष्टिगोचर हो रही थी। सारा नगर सुख

की निद्रा में मग्न था। शून्यता, घोर शून्यता व्याप्त थी यत्र-तत्र। केवल जग रही थी—वैभव की महारानी अद्वितीय सुन्दरी वासवदत्ता और पिपासित मनु।

वासवदत्ता किसी अज्ञात भावुकता मे बही जा रही थी। यही कारण था कि उसके शशि-मुख पर व्यथा की रेखाए छा गयी। नयनों के मोती कपोलों पर छलक पडने को हो गए, ओष्ठ अत्यन्त मद्धिम स्वर मे फड़क उठे —'नगर समझता है कि वासवदत्ता के पास अतुल सम्पत्ति है जिससे वह अपना जीवन बडे आनन्द मे व्यतीत करती होगी, किन्तु यदि कोई अन्वेषण करके सत्य का पता लगाए तो उसे यही प्रतीति होगी, कि उसका जीवन स्वर्ग नही नरक है, स्वतन्त्र नही परतन्त्र है, शीतल धारा नही जलती हुई ज्वाला है। ··उसके तन को आभिजात-वर्ग-सामन्त-वर्ग उसी प्रकार डसता है जैसे अहि प्राणी के तन को।···ये लोग मानव नही, वे लोलुप श्वान हैं, जो उसके रूप पर आसक्त होकर पूछ हिलाते हैं और जैसे ही इन्हे अन्य रूप रूपी रोटी मिल जाती है तो ये फिर कभी अपनी शक्ल भी नही दिखाते।'

वासवदत्ता को बड़बड़ाते देखकर मनु उत्तेजित स्वर मे बोला—'मेरे प्रश्न का उत्तर?'

'श्रीमन्त! आज मैं लाचार हूं। मेरी मन स्थिति ठीक नही, अतः मैं क्षमा-याचना करती हूं।'

'तो मैं कल आऊं?'—उठते हुए मनु ने पूछा।

'कल नही परसों! थोडे काल के लिए मैं अपने अशात मन को शान्ति देना चाहती हू। मुझे इस अशिष्टता के लिए क्षमा करेंगे।'—सन्निकट थी वासवदत्ता। मनु ने उसके उर में अपने प्रति चिरार्पण अक्षुण्ण करने के तात्पर्य से एक मूल्यवान आभूषण पहना दिया—'सुन्दरी! सर्वप्रथम तुम अपने मन को मुदित करो। तुम्हारे आनन की वेदना मैं सह नही सकता। मैं तुम्हारे अधरो पर मादक मुस्कान देखना चाहता हूं।'—कहता-कहता मनु प्रकोष्ठ के बाहर हो गया।

वासवदत्ता रो पड़ी—फूट-फूटकर।

७

गृहलक्ष्मी के शयन-कक्ष में अभी भी दीपक जल रहा था। मनु ने गृह-प्रवेश करते ही सर्वप्रथम उसी ओर दृष्टिपात किया। शयन-कक्ष में प्रकाश देखकर उस ओर चल पड़ा।

'खट्-खट्-खट्।'—मनु ने द्वार खटखटाया।

'कौन है?'

'मैं।'

एक पल में द्वार खुल गया। मनु ने देखा कि गृहलक्ष्मी सत्वरता में उसकी पद-रज अपने मस्तक पर लगाकर इस तरह खड़ी हो गयी जैसे कुछ काल पूर्व भयभीत हुई हो; क्योंकि उसके गोरे मुख पर स्वेदकण उभरे हुए थे।

मनु स्वेदकणों की ओर संकेत करके बोला—'महिषि! आज यह आकुलता कैसी?

'नाथ! आज मुझे एकान्त में भय लग रहा था।'

'भय क्यों लग रहा था?'

'यह मैं भी नहीं जानती, पर भय अवश्य लग रहा था।'—वह कुछ पल मौन रहकर बोली—'नाथ! आप मुझे एकाकी छोड़कर मत जाया करो।'

'नहीं जाऊंगा, अब मैं तुम्हें छोड़कर कहीं भी नहीं जाऊंगा।'

'हो नाथ, आज मुझे सिंह का यह चित्र भी भयभीत कर रहा था।'—उसका संकेत एक भित्ति चित्र की ओर था।

'जब भय मस्तिष्क पर छा जाता है तो ऐसी ही अनुभूति होती है। लेकिन अब आकुल होने की आवश्यकता नहीं है, आओ, हम दोनों विश्राम करें।'—गृहलक्ष्मी का कोमल कर मनु ने अपने हाथों में ले लिया और दोनों एक ही शय्या पर बैठ गए।

मनु ने कटाक्ष करके गृहलक्ष्मी से कहा—'आज तुम्हारा सौन्दर्य शृंगार के कारण अद्भुत छटा पा रहा है।'

'सौन्दर्य नहीं, आज आपके ये लोचन मेरे रूप को प्रेम की दृष्टि से

देख रहे है। प्रेम सौन्दर्य को सत्य की भाति प्यार करता है।'—गृहलक्ष्मी मनु के तनिक निकट आयी।

अतृप्तता के वशीभूत होने के कारण वह तत्परता से बोला, 'मैंने तुम्हारे हृदय-कमल पर अनैतिक प्रहार किया है, उसके लिए तुम मुझे क्षमा करोगी।'

'आर्य ललनाए पति को क्षमा नही करती हैं। यदि वे अपने पथ-विस्मृत पति को पथ निर्देशन करने मे समर्थ हो सकती है, तो अपने आपको धन्य मानती है।'

गृहलक्ष्मी के शब्दों मे शालीनता थी। इधर मनु का मन जल रहा था। वासवदत्ता द्वारा दो बार ठुकराए जाने के पश्चात् उसका प्रत्येक आवेग शात होना चाहता था। अतृप्ति की असन्तुष्टि उसे वाचाल कर रही थी। उसने नाटकीयता से, केवल अपनी तृप्ति के लिए पत्नी से अत्यन्त प्रेम का प्रदर्शन किया। उसने गृहलक्ष्मी को अपने अक मे भर लिया। गृहलक्ष्मी निर्विरोध रही, जो मनु को अच्छा नही लगा। वह चाहता था कि वह भी वासवदत्ता की भाति अभिनय करे, प्रेम नाट्य करे, रोक-थाम करे, कुछ रोष का तो कुछ जोश का प्रदर्शन करे; पर ऐसा करने मे गृहलक्ष्मी सर्वथा असमर्थ रही।

उसने नेत्रोन्मीलन कर लिए। मनु का मादक स्पर्श पाकर गृहलक्ष्मी उत्तेजित हो उठी। मनु वासना के मद मे इतना चूर हो गया था कि उसे वस्तुस्थिति का ज्ञान तक नही रहा। आत्मसमर्पण का महान् दान लेते हुए उसने गृहलक्ष्मी को मधुरता के साथ कहा—'वासवदत्ता! जीवन की यह साध आज तुमने पूर्ण कर दी, तुम कितनी अच्छी हो वासवदत्ता!'

मनु के बाहुपाश से उन्मुक्त होती हुई गृहलक्ष्मी तडप कर बोली—'मैं गणिका नही आपकी पत्नी हूं।'

मनु का स्वप्न भग हो गया…।

८

नगरपति की ओर से प्रदत्त राहुल का अपना भव्य कलात्मक भवन था जिसके चारों ओर एक रमणीय उपवन था। उपवन के परकोटे की प्राचीरो पर मजुल लतिकाए छिटक रही थी। भाति-भाति के पुष्प उपवन मे विकसित थे, जिससे समीर सौरभमय हो रहा था।

राहुल इस समय हसरूपिणी पीठिका पर सुख मे बैठा नई रचना लिखने मे तन्मय था। उसके चतुर्दिक प्रकृति की जो अनुपम शोभा थी; वह उसे प्रेरणा दे रही थी।

वह लिख रहा था—

'वास्तविक विजयी कौन है?'

'जो शक्ति से विजयी होता है।'

'नही, वास्तविक विजयी वह है जो अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त कर लेता है। आत्मा पर विजय प्राप्त करने वाला ही महान् होता है। दूसरों पर विजय करने वाला मूलत. अपने को पराजित करता है। वीर-से-वीर मनुष्य भी अपनी इच्छाओं के समक्ष पराजित हो जाता है और प्रत्येक विजय के बाद वह नूतन बन्धनों में बध जाता है। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि वास्तविक विजयी वही है जिसने अपने को जीत लिया है।

वह इतना लिख ही पाया था कि उसके तोरण-द्वार से रथ के रुकने की ध्वनि आयी। राहुल ने उठकर देखा—बाहर वासवदत्ता का रथ खडा है और वासवदत्ता उसकी प्रतीक्षा मे द्वार की ओर देख रही है।

राहुल तत्परता से रथ की ओर लपका। वासवदत्ता को सम्बोधित करता हुआ बोला – 'सुमुखि! क्या आज पथ विस्मृत हो गयी हो?'

'नही कविवर! इधर से जा रही थी, सोचा कविराज के दर्शन करती चलू।'—मादक पराग से वासवदत्ता के अधर भीगे थे—'आज्ञा है दर्शन की।'

'क्यों नही?'

'भय है कि कही उस दिन की भांति आप भाषण देना आरम्भ न कर दें। उस दिन तो आपने ऐसा क्षुद्र रूप बना रखा था कि···।'

'कवि हू न कवि आधे बावले तो होते ही है, आओ।'—राहुल उसकी ओर बढ़ा।

वासवदत्ता ने आपना हाथ राहुल की ओर बढ़ाया—'थोड़ा सम्बल दो।'

राहुल ने वासदत्ता का हाथ पकड कर रथ से उतार लिया। वासवदत्ता उसके स्पर्श से पुलकित हो गयी। कितना कोमल कर था राहुल का। सोच-कर वासवत्ता ने अपने हाथ मे राहुल के हाथ को दबा दिया। राहुल को इस क्रिया का परिज्ञान था ही। अपने को उसने मुक्त किया—'चलो भीतर, तुम उपवन का अवलोकन करो तब तक मैं आतिथ्य सत्कार के लिए सेवक को आज्ञा देता हूं।'

राहुल चला गया।

वासवदत्ता के हृदय में निमेष छागया, हलचल मच गयी, उथल-पुथल लगी। रह-रह उसके विचारों मे एक प्रश्न खडा होता था—'जब मैंने होने राहुलका हाथ दबाया तो उसने विरोध क्यों नही किया ? तो उसे मेरा प्रणय स्वीकार है ?···अस्वीकार कर भी कैसे सकता ? मेरा सौन्दर्य पुरुष का पराभव है। नगर का ऐसा कौन व्यक्ति है जो मुझ पर अपना सर्वस्व अर्पण करने को तत्पर न हो ? मेरी एक चितवन महान् क्रान्ति की द्योतक है।' —सोचते-सोचते वासवदत्ता के वासनामय नयनों मे अहकार टपकने लगा। वह जहा खडी थी, वही खडी रही—अटल।

'वासवदत्ता !'—राहुल ने पुकारा।

वासवदत्ता ने चौंककर इस तरह राहुल की ओर देखा जैसे वह किसी मोह निद्रा से जगी हो—'क्यों कविराज ?'

'भोजन के पूर्व कोई आज्ञा ?'

'पूर्ण करेंगे आप ?'

'हा, वासवदत्ता !' राहुल के शब्दों में अनुकम्पा थी—'गृह पर आए अतिथि के स्वागत के लिए राहुल का सर्वस्व तैयार है।' और वासवदत्ता से राहुल की आखें टकरा गयी। एक पल, दो पल तीन पल। – वह चौंककर बोला 'ओह ! क्षमा करना वासवदत्ता, मन मे आज न जाने इतना भीषण संघर्ष क्यों हो रहा है ?'

राहुल की मनस्थिति संतुलित नही रह पा रही थी। एकाकी नर और नारी के होने पर जो दुर्बलताए जाग्रत हो सकती है, वे ही उसे दुर्बल बना रही थी। उसकी मनस्थिति का ज्ञान वासवदत्ता को हो गया। उसने आगे बढकर राहुल का हाथ पकड लिया—'कविराज ! तुमने किसी से प्रेम किया है सच-सच बताना ?'—उसके स्वर मे अगाध अपनत्व था।

'प्रेम ? हा किया है।'

'किससे ?'

'अपनी कविता से ?'

'केवल कविता से तुष्टि नही होती। कविता मन की तुष्टि है।'—वासवदत्ता समीप बैठ गयी। राहुल की दृष्टि उसके मुख की ओर थी। वासवदत्ता की आखो में सौन्दर्य किलोलें मार रहा था। अद्भुत सुषमा थी—उसके आनन पर।

'तुष्टि मन है और जब मनुष्य मन पर आधिपत्य कर लेता है तब सन्तोष उसके अग-प्रत्यंग मे समा जाता है।'

'मिथ्या है कवि ! तुम अपनी आत्मा का हनन कर रहे हो, क्योंकि अनुराग विना विराग नही।'—उत्तर अकाट्य था।

राहुल वासवदत्ता को देखने लगा—'तुम दर्शन की गुत्थियों मे अपने आपको मत उलझाया करो वासवदत्ता। तुम्हारा जीवन एक चचल धारा है, उसमे गम्भीर गति की आवश्यकता नही।'

'मैं तो वह कहती हूं जो सत्य है और जो सत्य है, वही नित्य है। अतः कवि ! एक बार, एक पल के लिए तुम नारी-ससर्ग करो, उससे प्रेम करो, सच कहती हू कि तुम निहाल हो जाओगे।'

'वासवदत्ता !'—राहुल चीख पड़ा। नारी की यह वाक्-नग्नता उसे पसन्द नही आयी—'तुम मेरे जीवन का महाव्रत भंग करना चाहती हो। काम, क्रोध, मोह और माया के चक्र मे पडकर मैं अपनी शान्ति को नही त्याग सकता। मेरे जीवन की श्रेष्ठ उपासना है—शान्ति से सृजन'

'और असृजनात्मक शान्ति का दूसरा नाम है—जीवित-मृत्यु, अकर्मण्यता, आत्मा का शोषण।'''जानते हो कवि ? नारी और नर का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तरों से है और भविष्य मे भी रहेगा। जो तुम अभी नारी के

प्रति विरक्ति का प्रदर्शन कर रहे हो, वही तो वास्तविक अनुरक्ति है। अपने आपको भ्रम में रखकर तुम अपने मन के विचारो का क्षणिक हनन कर सकते हो। दैहिक पाप भले ही न करो मनसा पाप तुम अवश्य करोगे, निस्सन्देह करोगे।'

'मैं इन दोनों पापो से सदा वंचित रहूगा।—' राहुल दृढ़ था।

'असम्भव ! वासना प्रकृति का वह ज्वालामुखी है जो जीवन मे अवश्य ही अगारे उगलता है।'

राहुल चित्रवत्-सा उसे देख रहा था। राहुल अटलता का पर्यायवाची वन गया—नितान्त स्थिर। वासवदत्ता उसे अगीकार करने के लिए तत्पर हुई कि राहुल ने अपने आपको मुक्त किया—'वासवदत्ता ! मैने जीवन के सुख-दुःख, उत्थान-पतन, जीवन-मरण और जरा—रोग देख लिए है, अब पुन. मुझे इस पतनोन्मुखी—पथ पर क्यो ढकेलती हो ?'

'क्योकि मैं तुम पर आसक्त हूं, तुमसे प्रेम करती हू।'

'लेकिन मैं···।'

'तुम ! तुम भी मुझसे प्यार करते हो, विश्वास न हो तो अपने अचेतन मन से पूछ लो, अन्तरात्मा से प्रश्न कर लो, सही उत्तर मिल जाएगा।'—वासवदत्ता ने तुरन्त अपना मुह दूसरी ओर घुमा लिया।

राहुल एक शिष्य की भांति जो अपने गुरु की आज्ञा का पालन करता है, ठीक उसी भाति उसने अपने मन से पूछा। मन ने कहा—'तुम इससे प्यार करते हो, स्वर्ग की अप्सरा-सी अलौकिक सौन्दर्यमयी युवती से कौन प्यार नही करता ? तुम प्यार करते हो, तुम्हारी आत्मा का इससे अनुराग है तुम्हारी आखें इसके दर्शन से तृप्त होती है। तुमने अपने चारो ओर आदर्श का एक मायावी जाल बुन रखा है, सिर्फ जाल, समझे !

'नही वासवदत्ता ! मैं तुम से प्यार नही करता, तुम झूठ बोल रही हो। मै प्यार करता हू तो अपनी कविता से, अपने हृदय के सकल्पो-विकल्पो से।'—राहुल ने हृदय-उन्वेगों का मार्मिक शोषण किया। वह कांप रहा था। भयभीत था।

यह सुनकर वासवदत्ता को रोष आ गया। नयनो मे अंगारे से दहकने लगे। भर्त्सना के संग बोली—'तुम भयानक पाप कर रहे हो कवि ! अपनी

आत्मा से छल करना सबसे बड़ा पाप है। हृदय की भावना का शोषण करके तुम शान्ति नही पा सकते।'

"शायद अब मैं शान्ति से नही रह सकूंगा। वासवदत्ता! तुमने मेरे विचारो मे एक घोर कोलाहल मचा दिया है। अब मैं शान्ति से नही रह सकूगा; क्योकि···?"

'तुम अपने आपको सभालने मे असमर्थ हो। राहुल एक हृदय का दूसरे हृदय से लगाव होता है। इसे ही तो प्यार कहते है। मेरी पद-रज पाकर मेरे चाहने वाले धन्य हो जाते है और एक तुम हो—निष्ठुर, निर्दयी, निर्मम!'

'मैं चाहकर भी ऐसा नही करूगा क्योकि मेरी भावनाएं वचनबद्ध है। आज से पाच साल पूर्व मैंने एक रूपवती युवती से प्रेम किया था। विधि-विडम्बना कहो या भाग्य का चक्र कि वह अकाल ही महाकाल की ओर महा-प्रस्थान कर गयी। उसने मुझसे वचन लिया था—'तुम अब किसी से प्रेम नही करोगे, प्रेम करोगे तो केवल अपनी कविता से।'

मैंने अश्रुपूर्ण नेत्रों से अपनी मरणोन्मुखी प्रेमिका की ओर देखा—'ऐसा क्यों देवी?'

'उसने कहा था। तुम मुझे अपनी स्मृति से ओझल कर दोगे मेरी स्मृति तभी ही अमर रह सकती है जब तुम एक अतृप्तता मे जलते रहो, विकलते रहो।

'तो तुम तृप्ति नही चाहते?'—वासवदत्ता ने पूछा।

'मेरी तृप्ति ही मेरी कविता का पराभव है। जो विकलता, जो व्यथा और जो तडफन मेरी रचनाओ मे देख रही हो, वह मेरी आन्तरिक अतृप्तता है और उस अतृप्तता को मैं चिर रखना चाहता हू।'

'तुम अपनी प्रेयसी का प्रतिबिम्ब मुझ मे नही देख सकते?'—नवीन सुझाव दिया वासवदत्ता ने।

'नही।'

राहुल के यौवन पर आसक्त वासवदत्ता अपनी इस पराजय से भुजंगिनी की भाति फुल्कार उठी—'इतना अपमान मत करो कवि! परिताप मे अपने आपको मत जलाओ। मेरा रूप सुधा है। पी लोगे तो एक सुखद अमरता की प्राप्ति कर लोगे।···और यदि नारी के प्यार को ठुकरा दिया

तो वह प्रतिशोध लेने के लिए पागल हो जाएगी।'

—वासवदत्ता ने एक चुनौती दी।

राहुल ने धैर्य से कहा—'प्यार और प्रतिशोध दो भिन्न बातें है। जहा प्यार है वहा प्रतिशोध नही, जहा प्रतिशोध है वहा प्यार नहीं। इन दोनो का एक साथ होना कुछ अनहोनी-सा लगता है। तुम बहक रही हो, सभल के चलने का स्वभाव डालो, नही तो जीवन के बीहड पथ पर शीघ्र ही भ्रान्त हो जाएगी।'

—राहुल की आंखें चमक उठी। उनमें एक अदम्य साहस झलक उठा। वह भीतर की ओर चलने लगा।

वासवदत्ता का दर्प चीत्कार उठा। उसने राहुल को रोका—'तुमने मुझे बहुत सताया है। बड़े निष्ठुर हो, पाषाण हो, अब मुझे सुरा चाहिए। मैं अपने मन की थकान मिटाना चाहती हू।'

राहुल ने तुरन्त उसे सुरा का प्याला थमा दिया।

वासवदत्ता ने उसे अपने अधरो से लगाकर पूछा—

तुम मुझे अगीकार करोगे या नही ?'

'नही।'—राहुल ने कहा—'मैं वासना को नही अपना सकता। आज मुझे प्रतीत हुआ कि तुम्हारा सौन्दर्य अलौकिक नही, लौकिक विपुल वासना भरा है।'

'रथ तैयार करा दो, अब मैं प्रस्थान करना चाहती हू।'—उसने सुरा को हलक से एक ही सास में उतार लिया।

राहुल द्वार की ओर चला।

वासवदत्ता उसे घृणा से देख रही थी। प्रतिशोध लेने के भाव उसकी आंखों में नाच रहे थे।

६

अपमान की ज्वाला मे दग्ध आज वासवदत्ता ने शृंगार तक नही किया।

वह बेसुध-सी पडी रही। न निशा के आने का ज्ञान और न दिवस के जाने का ध्यान। बस, विचारो मे उलझी वह सुखद-शय्या पर पड़ी थी।

केवल क्रोध, केवल तिलमिलाना, केवल अपने आपको अस्पष्ट भाषा मे कहना, क्या कहना इससे स्वय अज्ञान।

उसकी जलती हुई आखे और फड़कते हुए अधर बता रहे थे कि वासवदत्ता अपनी अन्तर्ज्वाला से राहुल को भस्म करना चाहती है जिसने उसके सौन्दर्य का तिरस्कार किया, उसके यौवन की उपेक्षा की।

कभी-कभी रोष के सघर्ष के केन्द्र उन मतवाले नयनों मे दो मोती अनायास छलक पडते थे। राहुल की इस उपेक्षा ने उसके विचारों में क्रांति-सी मचा दी थी। उसे यह सोचने के लिए विवश कर दिया था—'सृष्टि के रगमच पर सौन्दर्य तृप्ति नही, विजय नही। यदि सौन्दर्य विजयी होता तो उस दभी राहुल के हृदय मे वह उस विकल विचि को सर्जना कर देता जो अपनी तृप्ति के लिए जल-विहीन मीन की भाति तड़प उठती, आकुल हो जाती किन्तु राहुल ने अपने मन की उठती हुई विपुल वासना का हनन करके अपनी दुर्बलता पर विजय पायी।···ऐसा क्यो? यदि सौन्दर्य पुरुष का पराभव है तो फिर यह उद्भव कैसा?'—वासवदत्ता अपने आपमे ऐसा प्रश्न कर बैठी—'ऐसा क्यो वासवदत्ता? क्या राहुल अपने मन के सकल विकारो का दमन करके महान् बन गया है? – महान् बनना इतना सहज नही। वह आत्म-हनन करता है, सिर्फ आत्म-हनन! अपनी तृष्णाओं का दमन करता है। हा! इतना अवश्य है कि इस वसुमति पर वही एक अनुपम व्यक्ति है जिसकी वाणी पर वाग्देवी विराजी हुई है। जब वह अपने सुरीले कठ से कविता पाठ करता है तो श्रोता विमुग्ध-से, विमोहित-से निस्पन्द बैठे रहते हैं और मैं···?

'मैं तो अपनी समस्त अनुभूतियों से शून्य होकर चकोरी सदृश अनिमेष दृष्टि किए बैठी रहती हू जैसे राहुल अपनी वाणी द्वारा सुधा वृष्टि कर रहा हो मैं उसका पान कर रही हू।'

वासवदत्ता के विचार उसके मस्तिष्क में ठीक इस भाति उठ रहे थे जैसे उदधि मे लहरें। यदि तत्क्षण दीप-वर्तिका लय होने को न होती तो आन्तरिक सघर्ष में गतिहीन उसका तन तनिक भी कम्पन नहीं करता।

वह वहीं तब तक बैठी रहती, जब तक कोई आकर उसकी एकाग्रता को भंग नही करता । वह उठी । दीपक के समीप गयी। वर्तिका को ठीक किया और पुन: पूर्ववत् मुद्रा मे गभीर होकर बैठ गयी—'राहुल गुप्त रूप से अवश्य किसी से प्यार करता होगा ? उसके पास रूप है, गुण है, यौवन है, विद्या है, नगरपति द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठा है, फिर क्या उसके प्रेयसि नही होगी ? प्रेयसि ! अवश्य कोई मुझसे ही सुन्दर प्रेयसि होगी उसकी ।'—वासवदत्ता सौतिया डाह में जल उठी । जलकर निमिष भर के लिए जड-वत हो गयी । एकाएक वह जोर का अट्टहास कर उठी—'इस अपमान का प्रतिशोध केवल प्रतिशोध लेना है । मैं प्रतिशोध लूगी । प्रतिशोध ! केवल प्रतिशोध ! !'

शब्द उसके मस्तिष्क में प्रतिध्वनि से ध्वनित हो उठे ।

समस्या को समाधान मिल गया ।

यज्ञ को आहुति मिल गयी ।

स्थिर बैठी हुई वासवदत्ता चंचला-सी द्रुतगति द्वार पर गयी। पुकारा—'कोई है ?'

'आज्ञा ।' परिचारिका ने आकर कहा ।

'प्रहरी से जाकर कहो कि वह श्रीमत मनु को इसी पल यहा बुला लाए । उन्हें निवेदन करे कि आपकी प्रिय आपके विना आकुल है ।'

परिचारिका भेदभरी दृष्टि से अपनी स्वामिनी को देखकर बाहर चली गयी ।

और वासवदत्ता के नयन उस वीथि की ओर जम गए जिस ओर मे मनु का रथ आने वाला था ।

मनु शयन कक्ष में गृहलक्ष्मी से गृहस्थ-धर्म पर वार्तालाप कर रहा था कि वासवदत्ता के भृत्य ने आकर कहा—'श्रीमन्त ! देवी वासवदत्ता ने आपको इसी पल स्मरण किया है ?'

'मुझे !'—आह्लाद उनके अधरों पर चमक उठा ।

'हां, आपको ही ।'

'अहोभाग्य !' —मनु मन-ही-मन कह उठा—'आज स्वेच्छा वासवदत्ता ने मुझे स्मरण किया है ? क्या आज सूरज पूर्व को

पश्चिम मे उदय हुआ है ?'

अपनी सकल भावनाओ का शोषण करके वह प्रकट रूप से बोला—'प्रहरी ! तुम जाओ, हम अभी आ रहे है ?'

प्रहरी अभिवादन करके चला।

इधर प्रहरी गृह से बाहर निकला। उधर गृहलक्ष्मी ने मनु को अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाते हुए कहा—'आपने कहा था न कि मैं तुम्हें एकाकी नही छोड़ूंगा, फिर यह जाने का कैसा निश्चय ?'

मन चचल है, इसलिए उसके निश्चय क्षणिक होते हैं। तुम्हे तनिक भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए।'—मनु ने ऐसे ढंग से कहा जैसे यह बात अत्यन्त अमहत्त्वपूर्ण है।

'चिंता करना अथवा न करना मेरे बस का नही, किन्तु आप अपने वचन सत्य का जो व्यतिक्रम करते जा रहे हैं, कालान्तर उसका परिणाम जीवन मे पावस नहीं पतझर अवश्य ला सकता है।'

ईषत् मुस्कान के साथ मनु ने गृहलक्ष्मी का कर अपने हाथों में ले लिया जैसे यह पुरुष इस नारी को केवल मधुर बातों से फुसलाना चाहता है। वासवदत्ता के अपमान से आहत होकर जब यह आए तो इसे पति-परमेश्वर की महत्ता का भान कराके उसके मधुर आंचल में शान्ति पाए। दो जून रोटी के बदले इसके द्वारा अपने शिथिल गात को सहलवाए। बस इन्ही स्वार्थों को जीवित रखने हेतु मनु उसकी ठोडी को पकड़कर बोला—'तुम पत्नी हो न, अत. तुम्हें पति की प्रत्येक गति-विधि में सन्देह का आभास होता है। पर सत्य कुछ और ही है ? तुम तो यह जानती ही हो कि वासवदत्ता नर्तकी है और एक नर्तकी के समीप एक सामन्त एक ही उद्देश्य से जा सकता है, वह है नृत्यावलोकन। वह मेरा मनोरजन करती है और मैं उसका पारितोषिक सम्पत्ति के रूप में देता हू।'

बात व्यवसायी थी। उसे अस्वीकार करना अश्रेयस्कर था। मनु क्या, जितने भी उस वर्ग के प्राणी थे—वे उन दिनो वैभव विलास के वारिधि मे नारी की भावनाओ से क्रीड़ा करते ही थे।

गृहलक्ष्मी ने प्रतिरोध करना उचित नही समझा। प्रतिरोध का परिणाम उसके समक्ष कई बार नग्न होकर आया था। उस नग्नता में मनु की

दुष्टता, आतक, परित्याग का भय सभी समाविष्ट थे। अत हृदय के सत्य को हृदय मे छुपाती हुई, प्रदर्शन के साथ वह मनु का आलिंगन कर बैठी। उस आलिंगन की कृत्रिम आत्मीयता नयनो मे सजलता के रूप मे प्रकट हुई—'प्राणनाथ ! नेत्र देखकर तृप्त नही होते, कर्ण सुनते नही अघाते, अतएव इन दोनों के पीछे मदान्ध बनना नीति-विरुद्ध है और वासनाओ के सकेत पर धावित होने वाले नर अपने आत्म-चैतन्य पर कालिमा का आवरण डाल लेते है।—'

'एक प्रश्न पूछू तुमसे ?'—मनु ने गम्भीरता से पूछा।

'……'। सकेत मे 'हा' का उत्तर दिया गृहलक्ष्मी ने।

'अरण्य में घोर यातना भोगने वाला, पल्लव तथा फल-फूल पर जीवित निर्वाह करने वाला तपस्वी भी जब नारी का मोहिनी रूप देखता है, तो पथभ्रष्ट हो जाता है, तब घी-दूध और वैभव-सम्पन्न प्राणी अपने उद्दाम को कैसे थाम सकता है ?'

'इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि उसका पतन अवश्यमेव है ?'

गृहलक्ष्मी के उत्तर ने मनु को स्तभित कर दिया। कुछ अस्पष्ट विचार प्रकट करने लगा वह—'मनुष्य आत्म-अभिलाषा का हनन करके आनन्दित नही रह सकता। तृष्णा का शोषण उर में अनल का सचार करता है और वह अनल हौले-हौले एक दिन उल्कापात का रूप धारण करके अनिष्ट की सम्भावना बन जाती है। इसलिए तृष्णा की तृप्ति ही इसका विकारहीन समाधान है।'

गृहलक्ष्मी विदुषी-सी गम्भीर स्वर मे बोली—'तृष्णा की समाप्ति तृष्णा का उपाय नहीं; एक तृष्णा की समाप्ति सहस्र तृष्णाओं को जन्म देती है। निस्पृह बनकर आप जब तृष्णा की व्याख्या करेंगे' तो आप तृष्णा के अन्त मे सर्वनाश की शक्ति पाएगे। उसमे तारण की शक्ति और मुक्ति की भक्ति कहां है ?'—अन्तिम शब्द कहते-कहते गृहलक्ष्मी के चेहरे पर रोष की क्षीण रेखाएं उभर आयी।

मनु ने उन रेखाओ को दृष्टि मे ओझल किया—'सृष्टि के प्रांगण मे प्रत्येक प्राणी त्यागी, तपस्वी और वैरागी नही होता…।'—कहते-कहते मनु को अबेर होने का ध्यान आया कि उसके सन्निकट आकर अत्यन्त

कोमलता से बोला—'गृहलक्ष्मी ।'

'जी ।'

'वास्तव मे तुम विलक्षणा हो, अत्यन्त चातुरी मे तुमने मुझमे इतने क्षणो तक बातो मे बाधे रखा, मुझे वासवदत्ता के ध्यान से विमुख रखा, अतः मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हू । जाओ, अब अपने कार्य मे सलग्न हो जाओ। मैं प्रस्थान करता हू ।'

मनु उठा कि गृहलक्ष्मी ने एक प्रार्थना की—'शीघ्र लौटने की चिन्ता रखिएगा ?'

'जिस पाव जा रहा हू, उसी पाव लौट आऊगा ।'

१०

बाहर मज्जित रथ खडा था । मनु उस पर आसीन होकर चला ।

रथ चलते ही गृहलक्ष्मी वातायन से उस पथ की ओर निहारने लगी, जिस पथ से मनु जा रहा था ।

वासवदत्ता अभी भी उस वीथि की ओर निहार रही थी, जिस वीथि से मनु का रथ आ रहा था ।

मनु के रथ को देखते ही वासवदत्ता अपनी सुध-बुध भूलकर इस तरह शय्या पर पड गयी जैसे आज उसे हार्दिक सम्वेदना हो रही हो । नयनकोर से अश्रु की धार उसके अधरो के छोर को छूती हुई उसके आचल मे विलीन हो रही थी । वस्त्र अस्त-व्यस्त थे । कुन्तल स्नेहहीन और शृगारहीन थे ।

मनु ने ज्योही कक्ष मे प्रवेश किया, त्योही वासवदत्ता उसे बिना देखे पेट के बल सो गयी । मनु ने अपने दोनो हाथो से वासवदत्ता के कन्धे पकड़ लिए—। पूछा—'रूपसी ! क्या बात है ?"

"……।'—वासवदत्ता पूर्ववत् मौन रही ।

'तुम बोलती क्यो नही ?'—झकझोर दिया मनु ने ।

'……।'—निर्विरोध रही वासवदत्ता ।

'तुम कुछ बोलोगी या···?'—मनु ने वासवदत्ता को झटके से उठाकर अपने सम्मुख किया। उसका चेहरा अश्रुस्राव से भीग गया था। मनु के चेहरे पर भी ग्लानि के संग रोष थिरक उठा—'कुछ बताओगी या मैं···?'

'मनु !'

'बोलो न ?'

'भय लगता है कि कही तुम मेरी आशा पर तुषारापात न कर दो ?'

'मनु तुम्हारी आशा को पूर्ण करना अपना सौभाग्य समझेगा।··· धरती की वस्तु उसके लिए कोई असाध्य नही, बोलो तुम क्या चाहती हो ?'

'मैं चाहती हू तुम्हे···केवल तुम्हे !'

'मनु ?'—मनु क्या, मनु का रोम-रोम बोल उठा।

'तुम्हे, हां मनु, केवल तुम्हे !···मैं उस दिन की धृष्टता के लिए तुमसे क्षमा-याचना करती हूं।'—इतना कह वासवदत्ता ने मनु के कोमल कर का एक क्षीण स्पर्श किया। मनु निहाल हो गया। मन मे प्रश्न उठा—'यह स्वप्न है या सत्य ?···यह स्वप्न है या सत्य ?'

'हा, इन दिनों मुझे तुम्हारे सिवाय कोई भी तनिक भी रुचिकर नही लगता।···न जाने क्यों ?'—वासवदत्ता की दृष्टि वक्र थी।

''कदाचित् तुम्हे हमसे प्रेम···?'

'हा मनु, मैं भी यही प्रतीत करती हू कि मुझे तुमसे प्रेम हो गया है,··· सच्चा प्रेम।'

'वासवदत्ता ! सौन्दर्य का दभ करने वाली तुम प्रेम का मूल्यांकन कैसे करती हो, यह मैंने आज जाना ? इसके पूर्व मै इतना जानता था कि धन को धर्म, छल को लक्ष्य समझने वाली नारी हाट की शोभा हो सकती है, मन्दिर की पुजारिन नहीं। पर आज मेरे सम्मुख तुम विरोधाभास के रूप में खड़ी हो, मेरी प्रसन्नता की पराकाष्ठा क्या हो सकती है, कह नही सकता ?'—मनु के चक्षुओं मे आनन्द स्फुलिग की भांति ज्वलित हो उठा।

'स्त्री में हृदय एक होता है, और तब यह निर्विरोध मानना ही पड़ता है कि उस हृदय का अराध्यदेव भी एक ही होगा। एकाएक मैं व्यक्ति की नही, समाज की वस्तु हू, नगर वधू हूं।'—वासवदत्ता ने गम्भीर प्रश्न किया।

'तुम्हारे कथन की पीड़ा को मैं समझता हू। युगों से जब समाज में सभ्यता और सस्कृति का विकास हुआ है। तब से एक स्त्री एक ही पुरुष को अपना हृदय-सम्राट् बनाती आयी है। और तुम भी ऐसा करना चाहती हो विश्वास रखो, मै तुम्हे आजीवन अपने हृदय की साम्राज्ञी बनाए रखूगा।'—इतना कहकर मनु उसे आलिगन मे लेने हेतु, उद्यत हुआ कि वासवदत्ता उससे ऐसे मुक्त हुई जैसे मनु कोई विषधर हो और वासवदत्ता को डसना चाहता हो।

'ठहरो मनु! पहले मुझे शृगार करने दो। आज मैंने अपना जीवन-धन पा लिया है। सच कहू तो आज मेरी वह साधना सफल हुई, जिसके बीज मैंने आज नही, बहुत पहले, इतने पहले कि मुझे स्वयं को स्मरण नही, बोए थे।' वासवदत्ता उठी और मनु को देखती-देखती शृगार-कक्ष की ओर बढ गयी।

मनु अब एकाकी था। मौन, धीर, सयत। एकाएक उसके अधर कुटिल मुस्कान से थिरक उठे जैसे उसकी भावनाएं विद्रोह करना चाहती हैं, उनमें घोर परिवर्तन आ गया है।

मनु ने मन-ही-मन हसकर सोचा—'सृष्टि मे आकर मनुष्य को नाना प्रकार के अभिनय करने पडते है। वासवदत्ता एक प्रेयसि का अभिनय करती है। वह समझती है कि मनु मेरे प्रेमाभिनय मे फस गया है पर मनु केवल पिपासा की तृप्ति करना चाहता है, अपनी वह अतृप्त पिपासा—जिसकी तृप्ति के लिए उसे वासवदत्ता के रूप का सागर चाहिए।'

वासवदत्ता!

नगर की प्रतिष्ठित नर्तकी और प्रेम! वह भी सच्चा प्रेम!!'—मनु एक विडम्बना की हसी-हंस पड़ा। अपने-आप प्रश्न कर उठा—'वह मनु को बुद्धू बना रही है। मनु को बुद्धू? पर मनु स्वय सावधान है। वह सबको पहचानता है। अपने-आपको, वासवदत्ता को।

पद-चाप सुनते ही मनु की विचार शृंखला भग हुई। उसने द्वार की ओर ताका—स्तम्भित रह गया। सम्मुख खड़ी थी वासवदत्ता—अपनी तर्जनी को अधरो से लगाए। शृगार-सज्जित अप्रतिम रूप ने मनु को चित्र-लिखित बना दिया। मनु मूक रहा। तुरन्त वह वातायन की ओर अक्षि-

विस्मरण करता हुआ बोला—'प्राण को त्राण लेने दोगी या नही ?'

'क्यों ?'—वासवदत्ता ने अक्षि विक्षेप किया।

मनु मर्माहत हो उठा। अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख हुआ ही था कि वासवदत्ता ने उसे रोका—'मनु !'

'क्या ?'

'जो तुम करने जा रहे हो, क्या वह उचित करने जा रहे हो ?'

'निस्सन्देह ! मैं जो कर रहा हूं, केवल प्रेम-बन्धन को चिरन्तन रखने हेतु कर रहा हू।'

'पर वासना की लिप्सा प्रेम के पतन का मूल कारण है। प्रेम को अक्षुण्ण करने के लिए त्याग चाहिए, कुछ व्यवधान होना चाहिए, वह भी विपरीत प्राणियो मे।'

'नही वासवदत्ता ! सरिता का सागर में लुप्त हो जाना ही महान् प्रेम का प्रतीक होता है। दो हृदयो का महामिलन ही प्रेम की सफलता है।'

वासवदत्ता ने मनु को धैर्य देते हुए कहा—'मनु ! मेरा तन-मन दोनो तुम्हारे है। विश्वास रखो, जब कभी मै आत्म-समपर्ण करूंगी, तो केवल तुम्हें।'

'सच ?'

'हां ··लेकिन······?'—वासवदत्ता ने मनु की ओर पीठ कर दी। मनु को ऐसा लगा कि सौन्दर्य-माधुर्य का प्रासाद भूकम्प के कारण एकाएक विनष्ट हो गया। अत. उसने तुरन्त वासवदत्ता को अपनी ओर आमुख किया और स्थिर दृष्टि से निहारने लगा—'तुम कहती-कहती रुक क्यों गयी ?'

'मनु ! मेरे मन में एक क्रूर कांटा प्रतिपल चुभता रहता है, जब तक वह कांटा नही तोड़ा जाएगा, तब तक मैं किसी को भी स्वेच्छा से, निर्भयता से प्यार नही कर सकूगी।'

'वह काटा कौन है ?'

'उसको भग्न कर सकोगे ?'

'मनु चाहे जिसे भग्न कर सकता है। नगर के सबसे बडे सामन्त का पुत्र मनु क्या नही कर सकता ?'—उसकी वाणी में अहंकार था।

अहंकार विवेक का नाश कर देता है, मेधा को पथ-भ्रष्ट।

मनु के अहंकार पर तीव्र वार करती हुई वासवदत्ता बोली—'श्रीमन्त! वह कांटा कहीं आपको पीड़ा न पहुंचा दे?'

'मेरी शक्ति की परीक्षा लेना चाहती हो? मैं उस कांटे को यदि भग्न करूंगा, तो उसके भग्नावशेष भी नहीं मिलेंगे।'—अत्यन्त क्रोध आ गया मनु को—'बताओ, वह कांटा कौन है?'

'पर मैं उस कांटे को बल से नहीं, कौशल से तोड़ना चाहती हूं।'

'क्यों?'

'ताकि वह कांटा मेरे हृदय की निर्ममता और प्रतिहिंसा की भयानकता से परिचित हो जाए।'

'तुम्हारे हृदय का पार पाना अति दुर्लभ है।···अच्छा बताओ, मुझे क्या करना होगा?'

'तुम्हें? ··मनु तुम्हें एक प्रीति-भोज का आयोजन करना होगा, उसमें नगरपति को आमन्त्रित करना होगा। समस्त सामन्तों, सेट्ठिपुत्रों तथा राज्य के प्रमुखों को बुलाना होगा। उसमें वह भी आएगा···कांटा? समझे?'

'नहीं ··पर उसका नाम?'

'वहीं पर बताऊंगी। सर्वप्रथम तुम प्रीति-भोज आयोजन करो। ऐसा आयोजन करो जैसा आज तक किसी ने नहीं किया है?' —वासवदत्ता मनु के सन्निकट थी—'उस दिवस मैं अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ नृत्य करूंगी। उस दिन तुम देखोगे कि केवल मैं नहीं नाचूंगी अपितु यह गगन, धरा, वातावरण, पवन, चराचर सब नाचेंगे और उस नृत्य में तुम मेरे जीवन का नूतन-नाटिकाभिनय देखोगे।···मनु उस नाटक की सफलता मेरे जीवन की प्रथम विजय होगी।'

मनु किंकर्तव्य विमूढ़-सा वासवदत्ता के वासनादुग्ध मुख पर उठते हुए अमानवीय संघर्ष को देखता रहा। अमानवीयता के मूर्त्त होते-होते उसका निरुपम रूप लुप्त हो गया। एक पैशाचिकता व्याप्त थी उसके सलोने मुख पर।'

मनु ने सान्त्वना दी—'चिन्ता न करो, तुम्हारे प्रतिद्वन्द्वी का विनाश निश्चित है।'

वासवदत्ता ने उसे एक पत्र लिखकर देते हुए कहा—'इसे ले जाकर कविवर राहुल को दे दो।'

'जो आज्ञा।'

'पर इस बात का किसी को भी पता न चले ?'

''आप विश्वास रखें।' —उत्तर देकर वह सत्वरता से चली गयी।

पूर्ववत् जैसा एकान्त ! वही नीरवता और शून्यता। उस शून्यता को कम्पित कर देने वाला वासवदत्ता का अट्टहास। हिंसा से सना अट्टहास !!

अट्टहास की अति ने वासवदत्ता की आंखों में आंसू ला दिए। वह ऐसी मौन हो गयी जैसे वह गूंगी हो। पलकें ऐसी स्थिर हो गयी जैसे उनमें आदि मे स्पन्दन नहीं है। क्षण-पल में उसकी आंखों से अश्रु के कितने ही अनमोल मोती ढलक पड़े। ढलकते अश्रुओं को आंचल से पोंछते ही उसका अन्तराल फूट पड़ा—फफक-फफक।

उसके चेहरे के भावों से ऐसा प्रतीत होता था कि एक गहरी व्यथा वासवदत्ता के सुखमय जीवन में पीड़ामय बनकर उठती है और वासवदत्ता उससे आहत होकर केवल रोया करती है, इतना रोया करती है कि उसके तरुण कपोल रक्तिम हो उठते हैं। रोते-रोते जब अश्रु-उदधि सूख जाता तो वह उलझ जाती अपने भविष्य की उस महायात्रा के महाअन्त से, जहां उसके विचार एक प्रश्न पूछ बैठते है—'तुम्हारा अन्त क्या होगा ?'

'मेरा अन्त ?'—वासवदत्ता बड़बड़ाती है।

'हां, एक नगरवधू का अन्त, एक गणिका का अन्त ?'

'मैं क्या जानू ?'

'मैं बताऊ ?'—उसके मन ने कहा।

'बताओ।'

'वासवदत्ता ! तुम्हारे जीवन और तुम्हारी वासना का अन्त घोर एकातिक पीड़ा से ग्रस्त व तिरस्कृत है। जब तुम्हारा जीवन जरा से जर्जर पजों में जकड़ कर कुरूप हो जाएगा तब एक भी प्रेमी तुम्हारे सम्मुख नहीं जाएगा ? तब तुम्हारे रूप पर आसक्त होनेवाले सहस्र शलभ, उस लौ की ओर लपकेंगे जो हाट में समाज-राज्य के अत्याचार से अथवा अपने दिव्य सौन्दर्य के अभिशाप से गणिका-नगरवधू बनाकर सामन्तों-सेट्ठिपुत्रों का मन

बहलाने के लिए बैठा दी जाएगी।'

'तो ?'—वासवदत्ता ने लघु प्रश्न किया जिसमे जीवन के अन्त की गुरु गभीर समस्या का समाधान बोलता था।

'आज ही निर्णय कर लो कि मुझे किसी-न-किसी प्रकार धन एकत्रित करना है ताकि यौवन ढलने के पश्चात् मुझे कष्टमय-प्रताडित-दुत्कारित जीवन-यापन न करना पड़े।'

विचारो के द्वन्द्व से उन्मुक्त होकर वासवदत्ता मन-ही-मन निर्णय करती हुई उठी और जाकर उसने अपनी सम्पत्ति का मूल्याकन किया अपार धनराशि उसकी विशाल अट्टालिकाओ मे यत्र-तत्र बिखरी हुई थी। आभूषण, मुद्राएं, मुक्ता-मणि, लाल, हीरो के भण्डार भरे थे तो भी उसकी लालसा ने आग्रह किया—'इतनी ही सम्पत्ति और एकत्रित्र कर लो तब तुम्हारा जीवन सुख का शान्त सागर बन जाएगा। तुम्हारी महायात्रा के महाअन्त का शुभ फल निकलेगा।···पर जानती हो धन धर्म से एकत्रित नही होता, उसके लिए अधर्म का सम्बल लेना पड़ेगा, पाप के पंकिल मे जाना-आना पडेगा। क्या तुम जाओगी ?'

'अवश्य जाऊगी !'—उसकी चेतना ने दृढता से कहा—'धर्म और पुण्य श्रेष्ठिपुत्रो व सामान्तो के रक्षा-शस्त्र है। मनुष्य का निर्वाण मनुष्य की केवल कल्पना है। धरती मे उत्पन्न वस्तु अन्त मे धरती के गर्भ मे ही विलीन होती है, शेष रहती है तो केवल स्मृतिया···और स्मृतिया भी समय के थपेडो के प्रहारो से धुधली होती हुई एक दिन समाप्त हो जाती है। तो फिर ? मुझे धन एकत्रित करना चाहिए, गणिका तो धन शब्द की ही पर्यायवाची होती है। मै धन एकत्रित करूगी और धन के साथ मन की तृप्ति, वासना की तुष्टि।

वासना और राहुल !

वासवदत्ता और कविराज ! !

वासवदत्ता इसी प्रकार मन से सोचती और हाथों से अतुल सम्पत्ति के भडारो को पूर्ववत बन्द करती हुई शयन-कक्ष की ओर बढी। उसका अन्तर्द्वन्द्व अब सम्पत्ति से हटकर राहुल पर केन्द्रीभूत हो गया था। वह निरन्तर इसी प्रयास मे थी किसी भाति उसका आत्मसमर्पण स्वीकार कर ले।

हां! राहुल उसके प्रणय को स्वीकार तो कर ले वह अपने जीवनोद्देश्य को परिवर्तित कर सकती है। क्योंकि राहुल रूप का सागर है, प्रेम का आगार है, गुणों का साक्षात देवता है।

इस प्रकार वासवदत्ता विभिन्न विचारों को अपने मानस-क्षेत्र में संघर्ष कराती शयनकक्ष में आयी।

अन्तर्द्वन्द्व से भाराक्रान्त, उत्तेजना से पीड़ित वासवदत्ता दुग्ध-सी श्वेत शय्या पर तन्द्रा की भग्नता में कुछ देर तक पड़ी रही।

कुछ पल के लिए वह निर्लेप हो गयी—अपनी समस्त अपूर्णताओं से।

'खट्-खट्...'

द्वार के खटखटाने की ध्वनि ने उसकी तन्द्रा को भंग कर दिया। हठात्-सी उठकर वासवदत्ता ने विस्मयाभिभूत दृष्टि से देखा—'नवीन प्रभात के निर्मल अरुणलोक का नूतन देवता, सुन्दर मुखमण्डल, पर शान्त मधुर हास्य की छटा। काली-काली आखों की पुतलियों में श्रद्धा की ज्योति, सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की कल्याणकारी स्वर्गीय आभा।

आगन्तुक ऐसा ही अनुपम युवक था।

अनुपम मुद्रा में खड़ा था—वासवदत्ता के समक्ष।

वासवदत्ता का मस्तक श्रद्धानत होकर झुकना चाहा पर किसी अन्तर की भावना ने उसे रोककर प्रमाद के उन्माद में डुबा दिया।

राहुल ने भी देखा—वासवदत्ता को, उसकी उन आंखों को जो राहुल पर स्थिर थी।

राहुल ने उसकी आंखो की भाषा को पढा। उसके चक्षु मानों कह रहे थे—'मैं यौवन के मद रस में भीगी मत्तकामोन्मादिनी नारी हूं, मेरे अंग-प्रत्यंग में उद्दाम वासना की दुर्वार क्षुधा ज्वलत वह्नि के सदृश लग चुकी है। उसके शमन के लिए उतनी ही ज्वलत विपरीत ज्वाला, चाहिए, राहुल चाहिए।'

राहुल अपनी दुर्बलता की ओर उन्मुख होते हुए विचारों पर आधिपत्य जमाता हुआ गम्भीरता से बोला—'पत्र में क्षमा-याचना का सम्वाद पढ़कर हार्दिक प्रसन्नता हुई। पर तुम्हारे दर्प का मर्दन अभी तक नहीं हुआ है। मुझे यहां आने का आमन्त्रण दे सकती हो, पर तुम नहीं आ सकती

मेरे गृह पर।'''आज आ गया हू फिर कभी ऐसे बुलाओगी तो अपमान कर दूगा।'''सरोष बोला राहुल।

'तुम्हारा अपमान मेरे लिए वरदान सिद्ध होगा !'—राहुल को अपने समीप बैठने का सकेत किया। राहुल बैठा तो वासवदत्ता अद्भुत गम्भीर आकृति बनाकर अन्तर्भेदी दृष्टि से राहुल को देखने लगी—'राहुल ! मैं तुम्हारे गृह आ सकती थी और आना भी चाहती थी, चाहती हू पर मैं परवश हूं।'—समस्त सहानुभूति को अपने स्वर में उडेलती हुई वासवदत्ता पुनः हौले से बोली—'राहुल ?'

'क्या है ?'

'तुम्हें मेरा यह जीवन कैसा लगता है ?'

'कीट से हेय।'

'तुम चाहते हो कि मैं इस प्रताडित जीवन में मुक्ति पा लू ?'

'अवश्य !'

'तो इस जीवन के नारकीय भय को सदैव के लिए समाप्त करने हेतु तुम्हे मेरे सग एक नाट्याभिनय करना पडेगा ?'

राहुल करुण उपहास मिश्रित हसी हस पड़ा—'वासवदत्ता। नाट्य-जीवन की अनुकृति है और इसी अनुकृति के आवर्तन मे तुम अपने को उलझाती हुई समाप्त कर दोगी। वासवदत्ता तनिक गभीरता से सोचो, इसमें सिवाय दु.ख के तुम कुछ नही पाओगी।'''मैं आज ही भगवान बुद्ध के वचनामृतों का पान कर रहा था। अध्ययन करते-करते प्राणी को अपने और अपने कृत्यो पर भयकर ग्लानि होने लगती है।'

'क्या थे वे वचनामृत ?'—कुतूहलता से पूछा वासवदत्ता ने।

राहुल पश्चात्ताप से भरी दृष्टि को नभ की ओर करता हुआ उपदेशक की भाति बोला—'मानव का तन विकारी है, इसलिए क्षय निश्चित है। जन्म-मरण और उत्पत्ति-विनाश के नियम से कोई नही बच सका। ये चिरन्तन हैं।'''वासवदत्ता ! प्रलोभन और से भोग नाशवान है। फिर भी तुम उनके पीछे झझा सी भागती हो—एक मरीचिका लिए।

'इन्ही सदुपदेशो से प्रभावित होकर तुम मेरे अनुपम सौन्दय की उपेक्षा करते हो ?'—वासवदत्ता के नयनों में गर्व दीप्त हो उठा—'पर तुम यह

हां ! राहुल उसके प्रणय को स्वीकार तो कर ले वह अपने जीवनोद्देश्य को परिवर्तित कर सकती है। क्योंकि राहुल रूप का सागर है, प्रेम का आगार है, गुणो का साक्षात देवता है।

इस प्रकार वासवदत्ता विभिन्न विचारों को अपने मानस-क्षेत्र में संघर्ष कराती शयनकक्ष मे आयी।

अन्तर्द्वन्द्व से भाराक्रान्त, उत्तेजना से पीड़ित वासवदत्ता दुग्ध-सी श्वेत शय्या पर तन्द्रा की भग्नता मे कुछ देर तक पड़ी रही।

कुछ पल के लिए वह निर्लेप हो गयी—अपनी समस्त अपूर्णताओं से।

'खट्-खट्…'

द्वार के खटखटाने की ध्वनि ने उसकी तन्द्रा को भंग कर दिया। हठात्-सी उठकर वासवदत्ता ने विस्मयाभिभूत दृष्टि से देखा—'नवीन प्रभात के निर्मल अरुणलोक का नूतन देवता, सुन्दर मुखमण्डल, पर शान्त मधुर हास्य की छटा। काली-काली आंखो की पुतलियों में श्रद्धा की ज्योति, सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की कल्याणकारी स्वर्गीय आभा।

आगन्तुक ऐसा ही अनुपम युवक था।

अनुपम मुद्रा मे खडा था—वासवदत्ता के समक्ष।

वासवदत्ता का मस्तक श्रद्धानत होकर झुकना चाहा पर किसी अन्तर की भावना ने उसे रोककर प्रमाद के उन्माद में डुबा दिया।

राहुल ने भी देखा—वासवदत्ता को, उसकी उन आखों को जो राहुल पर स्थिर थी।

राहुल ने उसकी आंखो की भाषा को पढा। उसके चक्षु मानों कह रहे थे—'मैं यौवन के मद रस में भीगी मत्तकामोन्मादिनी नारी हू, मेरे अंग-प्रत्यग मे उद्दाम वासना की दुर्वार क्षुधा ज्वलत वह्नि के सदृश लग चुकी है। उसके शमन के लिए उतनी ही ज्वलत विपरीत ज्वाला, चाहिए, राहुल चाहिए।'

राहुल अपनी दुर्वलता की ओर उन्मुख होते हुए विचारो पर आधिपत्य जमाता हुआ गम्भीरता से बोला—'पत्र में क्षमा-याचना का सम्वाद पढ़कर हार्दिक प्रसन्नता हुई। पर तुम्हारे दर्प का मर्दन अभी तक नही हुआ है। मुझे यहा आने का आमन्त्रण दे सकती हो, पर तुम नही आ सकती

मेरे गृह पर। ···आज आ गया हूं फिर कभी ऐसे बुलाओगी तो अपमान कर दूगा।'···सरोष बोला राहुल।

'तुम्हारा अपमान मेरे लिए वरदान सिद्ध होगा !'—राहुल को अपने समीप बैठने का संकेत किया। राहुल बैठा तो वासवदत्ता अद्भुत गम्भीर आकृति बनाकर अन्तर्भेदी दृष्टि से राहुल को देखने लगी—'राहुल ! मैं तुम्हारे गृह आ सकती थी और आना भी चाहती थी, चाहती हू पर मैं पर-वश हूं।'—समस्त सहानुभूति को अपने स्वर में उड़ेलती हुई वासवदत्ता पुनः हौले से बोली—'राहुल ?'

'क्या है ?'

'तुम्हें मेरा यह जीवन कैसा लगता है ?'

'कीट से हेय।'

'तुम चाहते हो कि मैं इस प्रताड़ित जीवन मे मुक्ति पा लू ?'

'अवश्य !'

'तो इस जीवन के नारकीय भय को सदैव के लिए समाप्त करने हेतु तुम्हे मेरे सग एक नाट्याभिनय करना पड़ेगा ?'

राहुल करुण उपहास मिश्रित हसी हस पडा—'वासवदत्ता। नाट्य-जीवन की अनुकृति है और इसी अनुकृति के आवर्तन मे तुम अपने को उल-झाती हुई समाप्त कर दोगी। वासवदत्ता तनिक गंभीरता से सोचो, इसमें सिवाय दुःख के तुम कुछ नही पाओगी।···मैं आज ही भगवान बुद्ध के वचनामृतों का पान कर रहा था। अध्ययन करते-करते प्राणी को अपने और अपने कृत्यो पर भयंकर ग्लानि होने लगती है।'

'क्या थे वे वचनामृत ?'—कुतूहलता से पूछा वासवदत्ता ने।

राहुल पश्चात्ताप से भरी दृष्टि को नभ की ओर करता हुआ उपदेशक की भाति बोला—'मानव का तन विकारी है, इसलिए क्षय निश्चित है। जन्म-मरण और उत्पत्ति-विनाश के नियम से कोई नही बच सका। ये चिरन्तन हैं।···वासवदत्ता ! प्रलोभन और ये भोग नाशवान है। फिर भी तुम उनके पीछे झंझा सी भागती हो—एक मरीचिका लिए।

'इन्ही सदुपदेशों से प्रभावित होकर तुम मेरे अनुपम सौन्दर्य की उपेक्षा करते हो ?'—वासवदत्ता के नयनों मे गर्व दीप्त हो उठा—'पर तुम यह

क्यों विस्मृत कर देते हो कि शिला-रूपी हृदय पर सागर-रूपी सम्पत्ति रखते-रखते हृदय उसका अभ्यस्त हो जाता है। इसीलिए तो मैं तुम्हे कहती हू कि प्रवचन और विरक्ति की उक्तियां मुझे मत सुनाया करो राहुल ? मैं रूप की उदधि मे अपनी उन्मत्त भावनाओं का पैशाचिक नृत्य देखना चाहती हू। मेरे उर-उपवन मे यदि किसी के लिए प्रेम-प्रसून विकसित है तो केवल तुम्हारे लिए, भाग्यशाली राहुल के लिए ! तुम मेरा यदि समर्पण स्वीकार करो तो मैं उसके उपरान्त तुम्हारा उपदेश भी ग्रहण कर सकती हूं। बोलो स्वीकार है तुम्हे ?'

राहुल के अधरो पर स्मित-रेखा थिरक उठी।

वह अपनी अन्तर्वाणी मे तन्मय होता गया—'वासवदत्ता ! राहुल पर अपने सौन्दर्य के मादक-बाण चलाने का प्रयास व्यर्थ है। क्योकि मैं शीघ्र बौद्ध धर्म अगीकार करने वाला हू। मैं भिक्षु बनकर अपने लौकिक प्रेम-काव्य मे अलौकिक ईश्वरीय प्रेम की पुण्य ज्योति का दर्शन करना चाहता हू। जानती हो, तथागत के विचारो ने मेरे मानस में क्रान्ति मचा रखी है। मैं दुखो और दुखों के कारणो से मुक्त होकर निर्वाण की अखण्ड साधना करना चाहता हू ?'

वासवदत्ता ने लपककर राहुल को पकड लिया। राहुल के समस्त तन मे दामिनी-सी कौंध गयी। अपने आपको उसकी पाश से मुक्त करने की चेष्टा करता हुआ बोला—'छोड दो मुझे वासवदत्ता।'

'नही।'

'क्यों ?'

'मैं अपने को तुम पर विसर्जन करना चाहती हूं ?'

'पर मैं अपने आपको तुम पर उत्सर्ग नही कर सकता।' वह वासवदत्ता से दूर हट गया।

'तो तुम मेरे सग रहकर अपनी उच्चतम साधना का तप करो और मैं तुम्हारे सग रहकर अपने प्रेम-प्रदीप को प्रचंड झझावातो में प्रज्वलित रखने का प्रयास करू ?'—प्रेमपूर्ण प्रश्न किया उसने।

'मैं तुम्हारे संग रहकर अपनी साधना नही कर सकता ?'—झुंझलाहट थी राहुल के स्वर मे।

हस पड़ी वासवदत्ता—'तभी तो कहती हू कवि कि तुम्हे जीवन से बडा मोह है। सर्वप्रथम वास्तविक रूप में आत्मा के बन्धन, मोह और लिप्सा से मुक्त होओ, क्योकि तथागत के उपदेशो को हम तभी ग्रहण कर सकते है जब हमारा अन्त करण शुद्ध और ससार वार्ताओ से मुक्त हो? हमने अपनी तृष्णाओ का दमन कर लिया हो।'

राहुल गणिका की इस उक्ति से चिढ गया। पराजित किन्तु अभिमानी पुरुप की भाति चलता हुआ बोला—'मै जा रहा हू, अब यहा कभी नही आऊगा और तुम भी मेरे यहा कभी मत आना, कोई सन्देश मत भिजवाना क्योकि तुम्हारा सग मेरा पराभव है।'

'राहुल! स्वयं तथागत तो उपेक्षिताओ व गणिकाओ के निमन्त्रण स्वीकार करते थे और तुम मे इतना आत्मबल नही कि नारी के सग एकान्तवास कर सको। अपनी इस महान् दुर्बलता को लेकर यदि तुम भिक्षु भी बन जाओगे तो भी विजयी नही हो सकते!···जानते नही, सघो मे भी तो तरुणिया है, क्या तुम वहा अपनी पिपासा के ज्वालामुखी को दबाए रख सकोगे?'

वासवदत्ता की बाते राहुल के तन पर तपी श्लाखा के सदृश लग रही थी। वह चीत्कार कर उठा—'तुम मौन हो जाओ वासवदत्ता।'

'मैं मौन हो जाती हू।'—झट से कहा वासवदत्ता ने।

'अब मैं जाता हू।'

'मैं तुम्हे नही जाने दूगी?'

'क्यो नही जाने दोगी तुम?'

'प्रेम जो करती हू।'

'पर मैं तुमसे घृणा करता हू।'

'मै घृणा को ही प्रेम का पर्यायवाची मानती हू।,

'माना करो, मुझे कोई आपत्ति नही।'—कहकर राहुल जाने को उद्यत हुआ।

वासवदत्ता ने झपटकर उसे अपने हृदय से चिपकाकर प्यार से कहा—'मैं तुम्हें अन्तिम बार चेतावनी देती हू कि मेरी इतनी उपेक्षा न करो कि मेरी नारी को विवश होकर प्रतिहिंसिनी का भयानक रूप धारण करना पड़े

और तब तुम्हारे पर न्यौछावर होने वाली यह रूपसी तुम्हारी मृत्यु का आह्वान करने लगे।···तुम्हारा सर्वनाश कर दे।'

'मेरा सर्वनाश ?'—राहुल ने अट्टहास किया—'राजकवि हूं ! वासवदत्ता, राजकवि !!'

'नारी के हठ व अज्ञेय चरित्र के चक्करों में कितने ही राजकवि क्या, स्वयं सम्राट पीडित, तडपते, सिसकते पथ पर एकाकी दृष्टिगोचर हुए हैं। तुम भी अपना भला-बुरा सोच लो।'

'सोच लिया।'—क्रोधित राहुल तीर की भांति कक्ष से बाहर हो गया।

वासवदत्ता ने रणचण्डी-सी प्रचंड-उद्दण्ड होकर मधु-चषक से जनसम दर्पण को तोड़कर खण्ड-खण्ड कर दिया।

१२

प्रीतिभोज का कार्यक्रम समाप्त हो गया।

इस कार्य के पश्चात् गृहलक्ष्मी का सन्देह सत्य में परिणत हो गया।

उसके मन-मन्दिर में यह बात सांस की भांति बस गयी कि उसका पति मनु नगर की नर्तकी वासवदत्ता पर पूर्णरूप से आसक्त है। वह उसके पति को अपनी अंगुलियों पर नचा सकती है, संकेतों से उठा-बैठा सकती है।

इस दुखद विचारों से मुक्ति प्राप्त करने हेतु गृहलक्ष्मी अपने को निर्विकार समझकर कक्ष के वातायन से महाशून्य की ओर निहारने लगी।

दूर, बहुत दूर, समस्त दिग्दिगान्त तिमिराच्छन्न था। केवल प्रकाशमान थे तो झिलमिलाते तारे। मणि-मुक्ताओं जैसे दीप्त तारे।

अप्रत्याशित मेघों ने भयावाह गर्जना की। अकेली गृहलक्ष्मी के हृदय में भय उत्पन्न हो गया। एक अपरिचित आशंका से उसका अन्तर विह्वल हो उठा। सलोने मृदुल व्यथा आलोड़ित आनन पर घटाएं-सी छा गयीं। वह एक दीर्घ निश्वास छोड़ बैठी—'युग-युग से पुरुष नारी पर अमानुषिक

अत्याचार करता आया है। मर्यादिक पुरुषोत्तम राम से लेकर आज तक नारी पुरुषों की चेरी रही है। जब-जब अत्याचार से प्रताड़ित होते-होते वह विद्रोहिणी बनी तब-तब पुरुष ने भांति-भांति चेष्टा-कुचेष्टा से उसका शोषण किया।'—उसके विचार समष्टि से व्यक्ति पर आ गए—मुझे ही देखो! नगर के सामन्त-पुत्र मनु की पत्नी होकर इन श्रावण-भाद्र के माह मे जब कम्पन भरे मलय की सौरभ से मधुमास का कण-कण महक रहा है, तब मैं विरहन बनी उनकी प्रतीक्षा में सारी रात नयनो मे जागते-जागते व्यतीत कर देती हू। मेरा हृदय एक तड़प लिए आकुल रहता है। कभी-कभी आवेश के कारण मन भरने का निश्चय कर लेता है कि मैं भी ·· पर······।'—गृहलक्ष्मी का विद्रोह की ओर अग्रसर होता हुआ मन भगवान के कोप से डर गया—आत्म-हत्या पाप होता है। उससे केवल इहलोक ही नही परलोक भी बिगड जाता है। इससे प्राणी को जन्म-जन्मान्तर मोक्ष नही मिलता। और गृहलक्ष्मी के चेहरे पर दुर्द्धर्ष संघर्ष के उतार-चढ़ाव होने लगे।

प्रकोष्ठ मे घोर नीरवता थी और दुर्बोध्य भयावह निस्तब्धता थी—गृहलक्ष्मी के उर में। शनैः-शनैः वह अपने बारे में सोचने लगी।

— वासवदत्ता के रूप से मैं क्या कम हू? वह मोहित मुग्धा है तो मैं कल्याणी कामिनी हू।···फिर सामाजिक-धार्मिक बन्धनो को त्यागकर मेरा उपासक पर-स्त्री की उपासना क्यो करता है?'

'हा, गृहलक्ष्मी क्यो करता है?'—गृहलक्ष्मी के मन ने पूछा।

'प्रीतिभोज के उत्सव में नगरपति की उपस्थिति के मध्य, सदस्य जन-समुदाय के लक्षित करने पर भी मेरे पतिदेव लोलुप हिंस्र जन्तु की भांति तीक्ष्ण दृष्टि से वासवदत्ता की ओर क्यों घूर रहे थे?'

अपनी आन, मान और अभिमान को विस्मृत करके जब नर्तकी अपने अंग-प्रत्यंग और उपांगो का अभिनय करती हुई झूमती तो आराध्यदेव अबोध बालक की भांति क्यों उछल पडते थे।

जब वासवदत्ता अपनी लता सदृश्य मृदुल लचकीली कटि को छिन्ना, निवृता, रेचिता, कम्पिता, उद्‌हिता स्थितियों मे लचकाकर एक पूर्ण आवर्तन निकालती तो उनके मुखारविंद से वाह-वाह प्रस्फुटित क्यों हो

जाता था ?

जब वासवदत्ता अपनी पलकों को उन्मेष, निमेष प्रसृत, कुञ्चित, सम, विवर्तित आदि क्रियाओं में नचाकर कटाक्ष करती तो मेरे माग के सिन्दूर के सग स्वय नगरपति स्वाति बूद विहीन आहत पपैया की भाति क्यो कलप पडते थे ?

मैं देखती रही और देखकर कुछ न कर सकी। मेरे सुहाग की सौम्य ससृति मे स्फुलिंग बनकर आने वाली नारी के ज्वलित कणो का आभास पाकर भी मैं प्रकोष्ठ मे निरुपाय-सी बैठी रही।···जीवन की यह कैसी लाचारी है ?'—सोचकर गृहलक्ष्मी का हृदय रो उठा।

तुरन्त वह बड़बडाई—'जब वासवदत्ता नृत्य के मध्य केवल नगरपति के समक्ष एक सुन्दर मुद्रा मे खड़ी हुई और नगरपति आनदातिरेक होकर उसे एक सतलडा हार पारितोषिक रूप मे देने को उद्यत हुए तो उनके लोचनों मे अनल का घोर मौन आर्तनाद हो उठा था।'

'पर तत्काल वे भी विवश थे—ठीक मेरी तरह।'

इसी प्रकार विचारो में उलझी हुई गृहलक्ष्मी स्वप्नाविष्ट नयनों से अभी तक शून्य का अवलोकन कर रही थी।

धीरे-धीरे उसे निद्रा सताने लगी। पलकें श्रान्त होकर परस्पर मिलने के लिए आतुर होने लगी। तन भी थकान के मारे भाराक्रान्त हो उठा था।

नील निलय में दामिनी की चमक के सग मेघो की एक गुरू गम्भीर गर्जना हुई। यह गर्जना वृष्टि के आने की सन्देशवाहक थी। देखते-देखते वृष्टि होने लगी।

वृष्टि के साथ दामिनी उस तिमिरमयी घटाओ की वक्ष को बार-बार चीरती हुई ऐसे चमक उठती थी जैसे निराशाओं के धुधलेपन मे आशा की झलक।

गृहलक्ष्मी को भय लगने लगा। एकाकीपन उसको पीड़ित करने लगा। उसने एक पल के लिए अपनी रूपराशि पर दृष्टिपात किया और उपेक्षा की पीर से रो उठी।

रोते-रोते उसकी आंख लग गयी।

प्रकोष्ठ के द्वार पर निस्तब्धता निर्मम प्रहरी की सदृश पहरा दे रही

थी।

केवल सुनाई पड रही थी—गृहलक्ष्मी की श्वास-प्रश्वास।

निशीथ के क्षण विभावरी के आंचल के नीचे प्रश्रय पा रहे थे।

सीढियों पर पदचाप सुनाई पडी। पदचाप कक्ष-द्वार पर आकर रुक गयी। कुछ काल द्वार पर रुककर उसने भीतर प्रवेश का साहस किया तो निस्तब्धता के प्रहरी ने उसे रोका।

आगन्तुक ने भी उसकी आज्ञा को माना, पर एक पल के लिए फिर तुरन्त सबकी अवहेलना करता हुआ कक्ष में प्रविष्ट हो गया।

दीप-शिखा का प्रकाश मद्धिम था जिसे आगन्तुक ने प्रखर किया और देखा—'सुसुप्त गृहलक्ष्मी को।'

पराजित-निरुत्साही मन था मनु का आज। वह यंत्रचालित-सा गृह-लक्ष्मी पर झुका। उसे स्पर्श किया।

इस स्पर्श से गृहलक्ष्मी ने अपनी पलको को, कलियां जिस तरह विकसित होती है, उस तरह खोला।

हृदय को विश्वास नही हुआ। सोचा—'यह स्वप्न है या सत्य ?' —और तुरन्त उसने मनु के अंग-प्रत्यंग को स्पर्श करके अपने भ्रम का निवारण किया। क्योकि आज दीर्घकाल के बाद मनु उसके शयन-कक्ष में आया था।

प्रणय विह्वल-सी होकर उसने मनु को क्षणभर के लिए आलिंगन मे आबद्ध किया और फिर वह उससे नितान्त विलग होकर शून्य की ओर निहारने लगी।

मनु कम्पित स्वर मे बोला—'महिषि ! विलग न हो।'

'...।'—गृहलक्ष्मी मूक रही।

'मुझसे रूठ गयी हो ?'

'...।'—इस बार गृहलक्ष्मी ने अर्थभरी दृष्टि से देखा। नयन मानो बोल उठे—चतुर पुरुष तुम्हे रमणी की दुर्बलता से खूब खेलना आता है।

'प्रिय !'

—गृहलक्ष्मी को इतना रोष आया कि वह मनु को दुत्कार दे, फटकार दे, अपमानित कर दे पर वह ऐसा नही कर सकी। न जाने क्यो वह ऐसा

नहीं कर सकी, कदाचित वह एक धर्मपरायण पत्नी थी। तो भी अपने अन्तर की असन्तुष्टि को निकालती हुई वह उष्ण स्वर में बोली—'आज उस गणिका ने दुत्कार दिया क्या ?'

प्रहार मार्मिक था। मनु विचलित हो गया। एक पल में उसकी आकृति पर क्रोध की विकृत रेखाएं उठी और मिट गयी।

'नहीं ! आज मैं तो भ्रमण करने गया था।'—अपराधी की भांति दृष्टि को इधर-उधर मटकाकर उसने कहा।

'ऐसा तो आज तक नहीं हुआ है ?'

'मैं सच कहता हूं प्रिये कि आज मैं वासवदत्ता के यहां गया हो नहीं।'

'विश्वास नहीं होता आप पर ?'

'नारी का दूसरा नाम अविश्वास है।···गृहलक्ष्मी ! नारी को विश्वास दिलाने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण चाहिए और प्रत्यक्ष प्रमाण प्रत्येक पल सुलभ नहीं होते ?'—मनु की दृष्टि गृहलक्ष्मी के चेहरे पर जम गयी।

गृहलक्ष्मी भी पुरुष की उस स्थिर दृष्टि से उत्पन्न लज्जा के कारण नत-नयन हो गयी।

कुछ काल यह प्रथम प्रणय-लीला का अभिनय होता रहा। एकाएक सर्प के डंक मारने की क्रिया को देखकर प्राणी सावधान होता है, ठीक उसी प्रकार गृहलक्ष्मी अपने कर को मनु के हाथों से मुक्त करके कह उठी—नहीं, मुझे आप छोड़ दें। मुझे मत छूइए।'

मनु के मर्म-स्थल पर आघात लगा। वह सत्वरता से बोला—'तुम मेरे आनन्द में विघ्न डाल देती हो, आत्मा को तुम एक अतृप्ति की पीड़ा में जलने के लिए छोड़ देती हो, तुम्हारा यही स्वभाव कभी संघर्ष में परिणत हो जाएगा।'—मनु ने एक चेतावनी दी।

गृहलक्ष्मी ने मनु के तमतमाए ताम्रवर्णी चेहरे को देखा और मन-ही-मन सोचा—'जिस प्रकार तुम्हारे हृदय को दुःख पहुंचता है, ठीक उसी प्रकार तुम्हारे पर-स्त्री के गमन पर मुझे पीड़ा होती है। जब मैं एकाकी वरदानमय यौवन को लिए अभिशापित पल व्यतीत करती हूं, तब तुम्हें मुझ पर तनिक भी दया आती है ? जब मैं आपका चरण-स्पर्श करके अनुनय से कहती हूं कि नाथ ! आज मत जाइए, तो आप मेरी प्रार्थना को कुचल

करके हृदयहीन की भांति चले जाते है।···निर्मोही कही के, जाइए न, कौन रोकता है आपको?···पर आज, आज मैं भी आपको सुख नही दूगी, आप मुझे रह-रहकर जलाते है, तो मैं भी आपको एक सग जलाकर भस्मीभूत कर दूगी।'—सोचते-सोचते गृहलक्ष्मी के नयनों मे अश्रु छलछलाए।

'अरे तुम रोती हो?'

'नही!'—अनिच्छा से कहा गृहलक्ष्मी ने।

'धत्, पोछो इन आंसुओं को,···गृहलक्ष्मी! मेरी एक बात सुनो! 'मैं वासवदत्ता के यहा अवश्य जाता हू, पर केवल आमोद-प्रमोद के लिए।·· गृहलक्ष्मी! मैंने स्वप्न मे भी किसी अन्य स्त्री से दुष्कर्म करने के बारे में सोचा तक नही है।'—मिथ्या की पराकाष्ठा का उल्लघन करके मनु बोला।

'मन, मन का भेद नही जानता।'

'पर मन, मन का विश्वास तो कर सकता है।···गृहलक्ष्मी! मैं प्रभु से यही प्रार्थना करता हूं कि वे मुझे बस इस पतन से बचाए।'—मनु ने पुनः गृहलक्ष्मी का कर पकड़कर अपने सन्निकट शय्या पर उसे बैठा लिया—'गृहलक्ष्मी! मेरे मन-मन्दिर मे केवल तुम्हारा वास है। संगीत और नृत्य का प्रेमी होने के कारण मैं वासवदत्ता के यहा अवश्य जाता हू, पर अभी तक उसके किसी भी अग का पतित भावना से स्पर्श तक नही किया। भरोसा रखो! मैं तुम्हे चाहता हूं, केवल तुम्हे ही चाहूगा, आज भर नही, आने वाले कल में भी।'

भारतीय नारी पति के विश्वासो मे आश्वासनों मे, और मिथ्या प्रेम-प्रदर्शन मे अपने हृदय का सकल द्वेप-कलुप मिटाकर उसे अपना जीवन समर्पण कर दिया। पुरुप फिर विजयी हो गया।

१३

नगरपति के हाथ में मधु-चपक थमाती हुई वासवदत्ता बोली—'आपको इस तुच्छ नर्तकी का साधारण नृत्य पसन्द आया?'

'साधारण कैसा ? अनुपम क्यों नहीं कहती ?' —नगरपति ने मधु का एक घूट पीते हुए कहा—'तुम्हारे अधरों से गीत, हाथों से अर्थ, नेत्रों से भाव और पावों से ताल का सुन्दर प्रदर्शन देखकर तो मैं स्तम्भित रह गया। गणिके ! मेरे मन से तुम्हारी स्मृति ओझल हो रही थी, यह तुमने उचित ही किया कि मुझसे मिलने की अभिलाषा प्रकट की।'

'और मैं इसका धन्यवाद सामन्त-पुत्र मनु को देती हूं, जिसने कार्षापण, अर्धवाद, भापक तथा रूपो[1] की चिन्ता किए विना इस उत्सव को पूर्णरूपेण सफल बनाया।'

'मनु से हम भलीभांति परिचित हैं। वह श्रेष्ठ सामन्ती-वंश का है। बहुत दिन पूर्व वह किसी अत्यन्त लावण्यमयी क्रीत-दासी से भी प्यार करता था, जो अन्त में गणिका बनकर कहीं सुदूर दक्षिण में चली गयी।'

इस कथन पर वासवदत्ता के कान खड़े हो गए।

प्रीति-भोज के उपरान्त नगरपति का ध्यान वासवदत्ता की ओर आकृष्ट हुआ था, पर राज्य-प्रतिष्ठा का ध्यान रख करके उन्होंने उसे मिलने का आमन्त्रण नहीं दिया था; पर जब वासवदत्ता ने स्वयं उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की, तो नगरपति ने तुरन्त इस इच्छा को पूर्ण करने की स्वीकृति दे दी।

और आज—

साध्य-नक्षत्र के उदय होने के संग ही नगरपति की व्यक्तिगत वाटिका में वासवदत्ता की शिविका आकार रुकी।

नगरपति पूर्व से ही प्रतीक्षा कर रहे थे। पलक झपकते ही वे उसके समीप गए। वासवदत्ता का हाथ अपने हाथ में लेकर शिविका से उतरने में सम्बल दिया। वासवदत्ता का शीर्ष और नयन दोनों प्रणाम हेतु नत हो गए।

तत्पश्चात् नगरपति ने उसे अपनी वैभव-सम्पन्न वाटिकाओं में विहार कराया।

जब नक्षत्रों से नभ दीप्त हो उठा, तब वे दोनों केलि-भवन में पूर्व सज्जित शय्या पर आकर मधु-पान करने लगे।

---

१. बौद्धकालीन सिक्के।

वासवदत्ता के सामीप्य-ससर्ग से नगरपति अकस्मात चौंककर उठ गए। अस्फुट स्वर में बोले—'ऐसा प्रतीत होता है, जैसे तुम जलती हुई शिखा हो। कितनी तपिस है तुम्हारे अग-अंग में ?'

वासवदत्ता कुछ देर तक मूक रहकर विचित्र दृष्टि से नगरपति को देखती रही।

नगरपति अपनी दृष्टि को कभी वामवदत्ता पर और कभी यत्र-तत्र धावित करने लगे।

"शिखा या शीतलता ?'—लघु शब्द उच्चारित करके वासवदत्ता ने अपने नयनों की भावना को नगरपति के लोचनों की भावना से टकराया और मन्त्र-मुग्ध-सी नगरपति के कन्धे पर अपनी गर्दन टेककर तप्त-द्रुत निश्वास भरने और तजने लगी।

नगरपति प्रस्तर-प्रतिमा-से अचल खडे रहे निर्विरोध और निर्वाक !

वासवदत्ता उनसे हठात् विलग होकर वातायन के ममीप खडी हो गयी।

वे आवेश-भरे स्वर मे बोले—'वासवदत्ता ! तुम हमसे दूर क्यों हो गयी ?'

'ऐसे ही महाराज !'—मलीन स्वर उस प्रकोष्ठ में संगीत की भाति गूज उठा।

'तुम इस भाति हमारे सुख मे आघात पहुचाना श्रेयस्कर समझती हो ?'—नगरपति गंभीर हो गए।

'नही महाराज ! जब कभी मैं जीवन का अपरिमित आनन्द लूटने लगती हूं, तो मेरा अपमान मुझे एक मार्मिक यन्त्रणा देने लगता है। मेरे रोम-रोम में पीडामय जीवन उत्पात मचाने लगता है। मेरे मधुमय प्रेम-नीड़ को क्षत-विक्षत करने के लिए वह वाचाल हो जाता है।

'कौन-सा अपमान है वह ?'

'असह्य अपमान !

'किसने किया ?'

'आपके अपने प्रियजन ने।'

'मेरे प्रियजन ने ?'

'हा महाराज।'

असम्भव है।'

'इसलिए कि आपका हृदय निर्मल जल की भांति स्वच्छ है, पर दूसरों का हृदय तो कल्मष की भाति कलुषित भी हो सकता है।'

'यह बता सकती हो कि वह कौन है ?'

'चरण-धूलि को उसका परिचय देना और उसके अपराध को बताना स्वीकार है किन्तु यह सब बताने के पूर्व मैं इसकी स्पष्टोक्ति चाहती हू कि अपराधी को दण्ड निश्चय ही मिलना चाहिए।'

'क्यो ?···अपराध प्रमाणित हुए विना दण्ड देना न्याय के विरुद्ध नही समझा जाएगा ?'

'लेकिन अपनी आत्म-रक्षा हेतु अपराधी भाति-भांति के तर्क उपस्थित करके अपने अपराध को निरपराध का रूप भी दे सकता है ?'

'यह कैसे हो सकता है ?'

'महाराज ! व्यक्तिगत अपराधों के लिए प्रमाणों का प्राप्य होना अति दुर्लभ है और विना प्रमाण के अपराध प्रमाणित नही किया जा सकता।'

नगरपति अविचल से वासवदत्ता के समीप खड़े होकर अधकार की ओर निहारने लगे।

उनकी भगिमा से प्रतीत हो रहा था कि इस तिमिर के महाशून्य मे वे इस समस्या के समाधान का अनुसरण कर रहे हैं। उन्होंने वासवदत्ता को नितान्त मौन देखकर कुछ कहना चाहा, पर कह नही सके। तब वासवदत्ता शय्या की ओर बढी—'महाराज ! आप आज्ञा दें। मैं प्रस्थान करना चाहती हू ?'

'प्रस्थान करना चाहती हो ?'—नगरपति ने विस्मय से पूछा।

'हा, रात व्यतीत हो रही है।'—वह द्वार की ओर बढ़ी।

नगरपति पथ-प्राचीर बन गए—'व्यतीत होती है तो होने दो। पर तुम मत जाओ।'

'महाराज ! न्याय-निर्णय पर आपकी मूकता मेरे हृदय में विचित्र भावों की सृष्टि कर रही है। मैं सोच रही हूं कि क्या महाराज अपनी स्वेच्छा से मेरे अपमान के प्रतिशोध का प्रतिकार नही निकाल सकते ?'

उत्तेजना से तापित नगरपति का अहम् भाव बोल उठा—"मैं इतना निर्बल हू क्या ?'

'ऐसा मैं कैसे कह सकती हू ?'

'समझती तो हो ?'

'नही, मैं आपको निर्बल नही समझती पर अपनी ओर आपको तनिक उदासीन पाती हू ।'

'नही वासवदत्ता ! तुम्हारे हृदय के मूक क्रन्दन मे तुम्हारी निर्दोषता की वाणी सुन रहा हू। तुम्हारा अपमान करने वाले का सम्मान शीघ्र ही धूल-धूसरित होगा।'

शिशु की भांति अबोध बनकर वासवदत्ता ने नगरपति के वक्ष पर अपना मस्तक रख दिया। बोली—'राजनीति के कर्ताओं की वार्ता पर विश्वास नही किया जाता; क्योंकि राजनीति से धर्म गौण माना गया है, फिर आप तो नृप है। दायित्वो से बधे। न्याय के मानदडो से जकडे। लोक-दृष्टि में मेरा काम अनुचित भी हो सकता है। अतः आप मुझे वचन दीजिए।'

'वचन !'—नगरपति के मन ने रोका, 'यह गणिका है जो स मयान्तर कितने ही रूप बदलती रहती है। उन सबो के भिन्न-भिन्न तात्पर्य और स्वार्थ होते है।'

'किसी को प्राण दड दिलाने की इच्छा है क्या ?'—नगरपति ने विहस-कर कहा मानो वे परिहास में वासवदत्ता के मन की थाह लेना चाहते है।

'नहीं।'

'किसी धनी को धनहीन करना है ?'

'नही।'

'तो ?'

'केवल किसी को श्रीहीन करके निर्वासन देना है।'

'क्यों ?'

'महाराज ! उसने मेरी प्रतिष्ठा को धूल-धूसरित करने की चेष्टा की थी।'

'तुम्हारी प्रतिष्ठा को ?'

'हां।'

'कैसे ?'

'एकान्त में।'

'क्यों ?'

'मैं क्या जानू ?'

'फिर तुमने अपनी रक्षा उससे किस प्रकार की ?'

'युक्ति से।'

'सुन्दर ! तुम्हारी बुद्धि···।'

'महाराज !'—बीच में बोली वासवदत्ता—'उस दिन भगवान मेरा साथ नहीं देता तो मैं···।'

'अपनी बात स्पष्टता से कहो ?'

'घटना दो माह पूर्व की है

अपराह्न काल था।

गगन मेघाच्छन्न था।

मारुति के अदृश्य झूले पर चढ़कर मन-मयूर मतवाले हिचकोले ले रहा था।

तत्क्षण किसी के आने की आहट सुनाई पड़ी।

मेरे प्रकोष्ठ का द्वार बंद था। मैंने समझा कोई परिचारिका होगी। पर मैंने देखा—एक अत्यन्त गोरा चरण द्वार के भीतर प्रवेश कर रहा है। वह चरण एक तरुण का था।

मैं उसे देखती रही और वह मुझे देखता रहा।

एक पल, दो पल, तीन पल देखने में ही व्यतीत हुए तब उस तरुण के अधर मुस्करा पड़े। मुझे एक अद्भुत आकर्षण की विद्युत उस मुस्कान में जान पड़ी। सम्मोहित-सी उठकर मैं तरुण के समीप गयी। तरुण ने दो डग और बढ़ाए।

मैंने किंचित स्मितरेख से कहा—'प्रणाम !'

युवक अपनी वाणी में मधुमय प्रणय सिंचित करता हुआ बोला—'प्रणाम देवी।'

'आसन ग्रहण कीजिए।'—मैंने कहकर मन में सोचा—'व्यक्ति

सुसस्कृत एव सभ्य है।'

युवक हिम-सी श्वेत संगमरमर की वेदी पर बैठ गया।

'तुम्हारा नाम वासवदत्ता है?'

'जी।'

'नगर की श्रेष्ठ सुन्दरी, तुम्हारा सौन्दर्य, सम्पन्न तन केवल दृश्यमात्र है या स्पृश्यमात्र?'

आगन्तुक का बेढगा प्रश्न सुनकर मैं सम्भलकर बोली—'मेरा सौन्दर्य दृश्यमात्र है, मेरा स्पर्श अनिच्छा से कोई नही कर सकता।'

'तुम तो गणिका हो, सम्पत्ति तुम्हारे जीवन का मूलमन्त्र है, मैं तुम्हें अतुल सम्पत्ति दे सकता हू।'

'सम्पत्ति मेरे जीवन का मूल मन्त्र अवश्य है, पर आनन्द नही, हृदय की परम शांति नही।'

'गणिका और हृदय?'—तरुण खिलखिलाकर हस पड़ा—'यह तो तुमने विरोधाभास की बात कह दी।'

'इस विरोधाभास मे ही सत्य का सही रूप है। जानते हो, तन का क्रय-विक्रय किया जा सकता है, पर मन का नही। मन का तो तभी विक्रय किया जा सकता है, जब वह प्रणय के अटूट बन्धनों मे बाध लिया जाए।'—मैंने भावातिरेक होकर कहा।

फिर वासवदत्ता निस्तब्ध हो गयी।

अल्प क्षण पश्चात् वह अपने नयनों मे नाट्य-नेत्री की भाति कृत्रिम विषाद लाकर बोली—'महाराज! फिर उस तरुण ने क्या किया···?'

'बताओ, क्या किया?'

'वह हिंस्र जन्तु की भाति मेरी ओर लपका। मैं कापी, सिहरी और भय से आतकित हो गयी। चीत्कार करने के लिए मैंने अपना मुह खोला कि उसने झपटकर मेरा मुह वस्त्र से बन्द कर दिया।'

इतना कह वासवदत्ता नगरपति की ओर इस हेतु से देखने लगी कि मेरी कथा की उन पर क्या प्रतिक्रिया हो रही है? उसने देखा—महाराज की आकृति ताम्रवर्ण-सी हो गयी है। भृकुटि वक्र होकर तन गयी है।

बाण ठीक निशाने पर था।

वह भर्राए स्वर में बोली—ओह ! कितनी अमानुपिक वेदना की घड़ी थी वह ?

'वह तरुण कौन था ?'—रोषयुक्त स्वर में बोल उठे नगरपति।

'मैं उसी तरुण से अपना प्रतिशोध लेना चाहती हू !'—धैर्य से कहा वासदवत्ता ने।

'उसके हाथ काट दिए जाएगे रूपसी !'

'नहीं।'

'क्या यह दण्ड उचित नही ?'

'नहीं महाराज ! मैं इतनी वीभत्स दण्ड विधान की समर्थिका नही हूं। मैं तो केवल उस युवक को श्रीहीन करके, उसका नगर से निर्वासन चाहती हू।'

'हमे यह दण्ड देना स्वीकार है।'

'वचन ?'

'वचन !'

'महाराज वह आपका प्रियपात्र है ?'

'तुमसे भी···?'—महाराज की वासना बोली।

'हा !'

'नही, मुझे तुमसे प्रिय अन्य वस्तु नही लगती है। शीघ्र ही उस चरित्रहीन का नाम बताओ।'

'उस युवक का नाम···?'—कहती-कहती वासवदत्ता मौन हो गयी।

'यह कैसा अभिनय ?···कहो न रूपसी !'—महाराज अपनी अतृप्ति से वाचाल हो गए।

'आपका राजकवि राहुल।'

'गणिके !'—नगरपति चीख-से पड़े।

'महाराज ! वचन का पालन कीजिए, नही तो रजनी का आचल विदीर्ण करती ऊषा रानी आ जाएगी।'

नगरपति ने एक आज्ञा-पत्र लिखकर अपने दास को दे दिया।

वासवदत्ता के नयनों मे तत्क्षण प्रतिशोध बोल उठा—'देखा राहुल ! नारी के चरित्र को ?'

१४

प्राची के प्रागण में अंशुमाली की रश्मिया नूतन उन्मेप लेकर नर्तन करने लग गयी थी।

नभ गहरा नीलाभ था। कहीं-कही श्वेद घन के टुकडे पखो की तरह घूम रहे थे।

चंद नगरवासी अपनी गगनचुम्बी अट्टालिकाओं की छतो पर बैठे रश्मियो का अवलोकन कर रहे थे और उन लक्षाधीशों व सामन्तों की श्वेत स्फटिक-सी प्रस्तर की बनी अट्टालिकाएं रश्मियों के प्रकाश मे अत्यन्त मनोरम लग रही थी।

प्रवासी व्यवसायी व सेट्ठिपुत्र प्रातःकाल की अमृतमयी व स्वास्थ्य-वर्धक पवन का आनन्द लेने के लिए अपने गृहो से रथो पर सवार होकर ऊषा की धुंध के संग जो बाहर निकले थे, अब वे पुनः गृहों की ओर लौटने लगे थे।

उन सब का ध्यान उस जन-समूह की ओर लगा हुआ था, जो द्रुतगति से वेगवती धारा के सदृश जन-पथ के दक्षिण छोर पर स्थित हरितिमाच्छन्न क्षेत्र की ओर बढ़ रहा था—अत्यन्त तीव्र कोलाहल करता हुआ।

उस जन-समूह मे उस नगर के नई पौध के रूप में शिशु, कलिया स्वरूप बालक, अंकुर सदृश किशोर, सुमन भाति युवक, सौरभ रूप प्रौढ और विनाश की स्थिति मे कुम्हलाए सुमन के सदृश वृद्ध थे।

उस जन-समूह मे सृष्टि की जन्मदात्री, सचालिका और सहारिका नारिया भी थी।

सारे जन-समूह पर श्रद्धा का मौन और दर्शन की उत्कण्ठा छाई हुई थी।

आपस के तन-घर्षण तथा स्पर्श से अपरिचित वह जन-समूह केवल क्षेत्र की ओर बढ़ता जा रहा था।

वासवदत्ता का रथ भी उसी पथ से जा रहा था।

वासवदत्ता की घनी काजल-सी अलकें उसके शशि-मुख के चतुर्दिक आच्छन्न थी। उन श्यामल अलकों के मध्य प्रकाशपुंज की भाति दीप्त

उसका आनन अत्यन्त भला लग रहा था।

वासवदत्ता की उनींदी पलकों में मद का क्षीण प्रभाव अब भी था। वसन भी अंग-सौष्ठव के अनुसार पहने हुए नहीं थे।

वासवदत्ता का रथ परिचित था—वहां के श्रेष्ठिपुत्रों के लिए, वहां के नागरिकों के लिए, सामन्तों व प्रवासीजनों के लिए।

लेकिन आज उसने एक आश्चर्य पाया। एक बड़ा आश्चर्य कि सारा जनपद, जो उस सुन्दरी के रथ की ओर आकृष्ट हो जाता था, आज उसे दृष्टि भर भी नहीं देख रहा था?

उसने ध्यान से उस कोलाहल के मध्य उठते हुए अस्फुट शब्दों को सुनने की चेष्टा की। उसे सुनाई पड़ा—'आचार्य भिक्षु उपगुप्त पधारे हैं, उनका भाषण होगा, भिक्षु उपगुप्त का भाषण अमरवाणी से कम नहीं, चलें, शीघ्र चलें।'

वासवदत्ता ने सही स्थिति जानने हेतु सारथी से कहा—'किसी एक श्रीमान से पूछो तो कि यह जनपद-समूह आज किधर प्रस्थान कर रहा है?'

सारथी ने एक व्यक्ति से पूछकर नम्र शब्दों में निवेदन किया—'तथागत के परम शिष्य आचार्य उपगुप्त का आज नगर में आगमन हुआ है। उन्हीं की वाणी का श्रवण करने सारा जनपद जा रहा है।'

वासवदत्ता ने राहुल से, उस निष्कासित राहुल से जो कल नगरपति के हृदय का उच्छ्वास था, आज श्रीहीन और धनहीन होकर कहीं अन्य नगर में भटक रहा होगा—उपगुप्त की अति प्रशंसा सुन चुकी थी। उसके हृदय में कुतूहल जगा, उपगुप्त को देखने का कुतूहल जगा और कुतूहल के साथ जिज्ञासा बढ़ी।

अल्पकाल के लिए मौन रहकर उसने मन-ही-मन कुछ निर्णय किया। फिर अपने आंचल को सुव्यवस्थित करती हुई बोली—'सारथी! रथ उस क्षेत्र की ओर हांको जहां भिक्षु भाषण करेंगे!'

सारथी ने रथ की गति द्रुत कर दी।

वासवदत्ता अचल-सी सोच रही थी—'भिक्षु उपगुप्त का महान् व्यक्तित्व होगा तभी तो समस्त जनपद उसकी ओर इस प्रकार आकर्षित

हो रहा है, जिस तरह लोह-वस्तु चुम्बक की ओर होती है,...अवश्य ही सौन्दर्य-गुण सम्पन्न होगा तभी तो जनपद मुझे विस्मृत कर रहा है।'

रथ क्षेत्र मे पहुंचा।

क्षेत्र मे अपार जनपद सागर-सा उमडा हुआ था।

सागर की लोल लहरो की भाति जन-समूह मौन हलचल कर रहा था।

एक उच्च वेदी पर अत्यन्त तरुण-करुण युवक खड़ा अपनी ओजस्वी वाणी मे समस्त श्रोताओ मे भगवान बुद्ध के निर्वाण-पथ की महत्ता का सचार कर रहा था।

सब पपीहो की भाति उन शब्दो को स्वाति-बूद समझकर पान कर रहे थे, कृतार्थ हो रहे थे।

कभी-कभी कोई व्यक्ति अपने समीप खड़े व्यक्ति को धीरे से कह उठता था—'उपगुप्त की वक्तृत्व कला का सब लोहा मानते है।'

भिक्षु उपगुप्त धारा-प्रवाह कहते जा रहे थे—'तथागत प्रभु ने कहा है कि सत्य ही नित्य है और सब नश्वर, अतः जीवन को निर्वाण की ओर लगाओ, वृथा निंदा-स्तुति कभी किसी को मत करो, क्योकि इससे समय व्यर्थ जाता है।'—इतना कहते-कहते भिक्षु के स्वर मे घनीभूत व्यथा का मिश्रण हो गया। उनकी प्रेममयी आखो मे पश्चात्ताप बोल उठा—'तुम राग-द्वेष, निन्दा-स्तुति, सुख-दु ख और जीवन-मरण आदि द्वन्द्वो की चिन्ता से निश्चिंत रहो, न्याय और सन्तोष को अपना भाग्य विधाता समझो, दु.ख से कदापि भय मत खाओ। उसकी उतनी उपेक्षा करो कि मानो उसका कोई अस्तित्व ही नही है।'—इतना कह भिक्षु उपगुप्त मौन हो गए।

एक श्रोता-जिज्ञासु ने उच्च स्वर मे पूछा—'भन्ते! अहम् क्या है?'

उपगुप्त गम्भीरता से प्रश्न का उत्तर देने लगे—'अहम् एक भ्रम है, एक पतन है और एक स्वार्थ है। प्राणी को इससे इतना ही बचना चाहिए जितना एक प्राणी के प्रहार से बचता है।'

जन-समूह मे एक प्रकाड पडित थे। उन्होने तीव्र स्वर में प्रश्न किया—'भन्ते! संघो मे भिक्षुणिया भी रहती हैं। बौद्ध धर्म के मतानुसार वे किस दृष्टि से देखने योग्य है?'

इस प्रश्न के संग प्रश्नकर्ता पर भिक्षु की दृष्टि स्थिर हो गयी और रुक गयी पैनी दृष्टि वासवदत्ता की --भिक्षु के सुपमामयी तेजस्वी आनन पर।

वासवदत्ता ने देखा—अलौकिक मुख-मण्डल पर सात्विक तथा शान्त सौन्दर्य छलक रहा है। मुडन की हुई मुखाकृति, दीर्घ उन्नत-वक्षस्थल और मासल तन उसके पूर्ण स्वस्थ होने के प्रतीक हैं।

उसने यह भी देखा कि आचार्य उपगुप्त के चेहरे के भाव जैसे कह रहे हैं कि प्रश्न का उत्तर देकर हम प्रश्नकर्त्ता के अज्ञान पर दया कर रहे हैं।

अपने हाथ को शून्याकाश की ओर उठाते हुए उपगुप्त बोले—'बौद्ध धर्म ने नारी को त्रिय रूप मे अंगीकार किया है। प्रत्येक भिक्षु जो बौद्ध धर्म की दीक्षा पूर्णरूपेण ले चुका है, वह तथागत के आदेशानुसार बालिका को पुत्रीरूप, युवती को भगिन रूप तथा स्त्री को मां स्वरूप मानेगा। महाप्रभु का आदेश है कि प्रत्येक भिक्षु मनसा, वाचा, कर्मणा से इस मान्यता को माने। यदि वह इस आदेश के प्रति तनिक भी उत्तरदायी रहेगा अथवा अपने मानस मे दुष्मान उत्पन्न करेगा वह तथागता के संग-सग अपनी आत्मा से भी छल करेगा और अपनी आत्मा से छल करने वाला महा-पातकी होता है। उसे ऐहिक जीवन में कभी भी शान्ति नही मिल सकती।'

उत्तर सुनकर श्रोताओं मे घोर शान्ति छा गयी।

वासवदत्ता उस शान्ति के वक्ष को विदीर्ण करती हुई दर्प से-मन-ही मन बोली—'श्रेष्ठ भिक्षु ! किसी यौवन से तुम्हारा सम्पर्क नही हुआ है। युवती के रूपान्तरो से तुम अनभिज्ञ हो। ज्ञान व ध्यान की बातें करने वाले जीवन के उस भेद से भिज्ञ नही होते, जिस भेद के तनिक आभास मात्र से ज्ञानी, ध्यानी और त्यागी अपने अस्तित्व को विस्मृत करके एक प्रमाद में मत्त होकर पतन के गहन गह्वर मे गिर पडते हैं।'

इतना विचार करके वासवदत्ता अपनी शिविका से उतरकर वेदी की ओर अग्रसर हुई।

समस्त जनपद का ध्यान उस अद्वितीय सुन्दरी पर केन्द्रीभूत हो गया। मत्तगामिनी-सी शनैः-शनैः डग उठाती वासवदत्ता वेदी की ओर बढ रही थी।

जनपद स्वत. ही उसे पथ दे रहा था।

देखते-देखते वासवदत्ता भिक्षु के सम्मुख आ खड़ी हुई।

भिक्षु विस्मय से वासवदत्ता की ओर देखने लगे और स्वय वासवदत्ता उसे अनिमेप दृष्टि से इस भांति देख रही थी जैसे वह अपनी दृष्टि द्वारा हृदय की सकल मनोभावना उड़ेलना चाहती है।

एक क्षण व्यतीत हुआ ही होगा कि भिक्षु ने शान्त भाव से पूछा—'भद्रे ! तुम्हारी भी कोई शका है ?'

'हा भन्ते !'

'बोलो।'

'भन्ते ! यदि भिक्षु नारी को इन्ही रूपो मे ग्रहण करके कल्याण समझता है, तो वह नारी क्या करेगी जो किसी भिक्षु के प्रणय-बन्धन मे अखण्ड रूप से आवद्ध हो गयी है। फिर ससार-चक्र कैसे चलेगा ?'

'वह नारी यदि उसमें प्रणय शक्ति का अजस्त्र स्रोत प्रवाहित हो रहा है तो वह अपने प्रणय-प्रभाव से उस भिक्षु को पुनः साधारण गृहस्थ बना लेगी।···यदि वह युवती इस कार्य मे अनुत्तीर्ण रहती है, तब उसे चाहिए कि वह अपने प्रेम में महान् अध्यात्मवाद का समावेश करे। प्रेम में वासना की ज्वाला को नही; अपितु ज्ञान के उस आलोक का दर्शन करे जो प्राणी की भावना को कल्याण की परिधि तक पहुंचा दे, ताकि उस प्रेयसि का प्रेम कपाय वस्त्रधारी भिक्षु के लिए भी ग्राह्य हो।'

'और स्पष्ट कीजिए भन्ते ?'— वासवदत्ता ने तुरन्त कहा।

'तब उसका प्रेम संसारी प्रेम की परिधि से उठकर अपने प्रेमी को देवता स्वरूप समझने लगेगा और भिक्षु उस प्रेम को प्रेम नही, एक साधना समझेगा, साधना भी अपनी नही उस प्रेमिका के कल्याण हेतु भगवान तथागत की कि इस प्रेम-अर्चिका को निर्वाण प्राप्त हो।···रहा भिक्षु ! वह सच्चा है तो उस नारी को उसी दृष्टि से देखेगा जो उसके मत मे मान्य है।'

'और यदि नारी उससे संसारी प्रेम की अपेक्षा करे तो ?'

'यह उसकी बडी भूल होगी। वह एक मरीचिका को प्राप्त करने के लिए अपना अन्त कर देगी —बिना कोई निष्कर्ष निकाले ही।'—इस बार भिक्षु के लोचनों मे अदम्य ज्योति दीप्त थी। पुनः बोला—'जो अपने धर्म व सिद्धान्तों में अखड विश्वास रखता है, जिसने नश्वर काया की वास्तविकता

का ज्ञान पा लिया है, जो सांसारिक प्रेम की वितृष्णा से परिचित है—वह तो प्रभु के बताए हुए पथ पर ही चलेगा। वह ससार से ज्यादा अपनी आत्मा के निर्वाण के लिए प्रयत्नशील रहेगा। ध्यान से सुनो—जो क्षणभगुर हैं, वह ग्राह्य नहीं। मेरे कथन के मर्म को समझने की चेष्टा करो।'

वासवदत्ता रीझ गयी भिक्षु पर, भिक्षु के अग-प्रत्यंग पर, उसके अप्रतिम सौन्दर्य पर।

तब वासवदत्ता कर-आबद्ध करके बोली—'आप मेरा आतिथ्य स्वीकार करेंगे ?'

'क्यों नहीं ?'

'मैं गणिका हू !'

'बौद्ध मतावलम्बी जातीय भेद नहीं मानते क्योंकि तथागत समदृष्टि सिद्धान्त के प्रणेता हैं।'

जाते-जाते वासवदत्ता ने कहा—'आप कब पधारेंगे ?'

'कल प्रभात-बेला।'

'भन्ते ! ध्यान रखिएगा कि मै तत्काल आपके स्वागत हेतु तत्पर रहूंगी।'—कहकर वासवदत्ता ने उन्हें प्रणाम किया।

भिक्षु ने उसे ससारिक बन्धनों से मुक्त होने का आशीर्वाद दिया।

इसके पश्चात् सभा समाप्त हो गयी।

जनपद मे एक आन्दोलन-सा मच गया।

वासवदत्ता अपने रथ पर आरूढ हो गयी। सारथी ने रथ हांक दिया।

उसके हृदय मे आज एक नवीन हलचल थी, जिज्ञासा थी, मोहाकर्पण था—भिक्षु के प्रति।

१५

'आजकल तुम अत्यन्त चतुर बनती जा रही हो ?'—मनु वासवदत्ता के कर-कमल से मधु-चपक लेते हुए बोला।

'सन्देह का कोई उपचार नही है प्रिय !' वासवदत्ता ने अनिच्छा से उत्तर दिया।

'उपचार कैसे हो रूपसी ?'—मनु ने हठात् कहा—'प्रीति-भोज मे सम्पत्ति व्यय करने के पश्चात् भी मै तुम्हारे शत्रु को नही पहचान सका और न ही तुमने मुझे बताया ?'

'मनु ! हर बात बताने की नही होती है।'—वासवदत्ता की प्यार से ओतप्रोत अगुलियां मनु के कुन्तलो मे उलझ गयी। उसकी उन्मत पलको मे अथाह अवसाद दीप्त हो उठा। वह मद्धिम स्वर मे बोली—'तुमने उसे पहचाना नही, इसका मुझे आश्चर्य और दु.ख दोनो है, लेकिन मैंने अपने उद्देश्य की पूर्ति कर ली है, शत्रु को दण्ड दिला दिया है, उससे प्रतिशोध ले लिया है, ज्ञात नही, धन व श्रीहीन वह युवक अभी कहा और किस दयनीय दशा मे होगा ?'

मनु यह सुनकर अवाक् रह गया—'क्या कहती हो वासवदत्ता ?'

'जो कहती हूं, सत्य कहती हू मनु। मैं जिसको दण्डित कराना चाहती थी, वह दण्डित हो चुका। मै विजयोल्लास मे मग्न हू और वह पराजय के पकिल में पीडित-प्रताडित होगा, कही, किसी स्थान पर।' और वासवदत्ता के अन्तर मे कोई बोल उठा—'राहुल पराजित नही हुआ है। वह जीत गया है।'

तत्काल वासवदत्ता का व्यवहार-बर्ताव ऐसा प्रतीत होता था जैसे वह मनु से हार्दिक प्रेम करती है।

और मनु के नेत्र करुणा से दहक रहे थे ! माग रहे थे—अपने अन्तर की विपुल वासना की तृप्ति और सन्तुष्टि।

अप्रत्याशित नाट्य-अभिनेत्री की भांति विहसी-कोकिल कठी—'तुम अत्युत्तम चतुर व्यापारी हो !'

'कैसे ?'

'धन के परिवर्तन मे तन का क्रय करना तुम्हारा मूलमत्र है, कदाचित् जीवनोद्देश्य है, कौटुम्बिक परम्परा है ?'—वासवदत्ता अब भी विहस रही थी।

'नही, नही, ऐसा न कहो प्रिय ! मनु के हृदय में ऐसा हेय विचार

उत्पन्न ही नही हो सकता ?'

'मै कैसे मानू ?···जब रात्रि बेला मे समस्त वातावरण पूर्ण यौवन से आलोडित है···तुम्हारे ऊपर शुभ्र चन्द्र, समीप चन्द्र की मादक ज्योत्स्ना, यत्र-तत्र-सर्वत्र पुलकित करने वाली मलय-पवन ! ऐसे सुन्दर क्षणों मे तुम यौवन के अतृप्त आनन्द की चिर मधु स्मृति का आह्वान नही कर रहे हो, अपितु क्षणिक तृप्ति में सलग्न हो ?'

मनु अल्पकाल तक वासवदत्ता के शब्दो पर स्तभित रहा। एक प्रश्न-भरी दृष्टि से देखते-देखते किंचित भेदभरी मुस्कान के साथ बोला—'वास्तव मे तुम रहस्यमयी हो, पुरुषों को सकेत पर नचाना तुम्हारे बाए हाथ का खेल है ?'

'यह तुम्हारा भ्रम है।'

'भ्रम के भव सागर मे मुझे प्रवाहित करने का प्रयास निष्फल रहेगा। आज मैं तुम्हारी वार्ता के व्यामोह मे नही आऊंगा। हृदय की पवित्र साध की तृप्ति करके, मैं अमर प्रणय की अन्तिम परिधि का प्रतीक 'महामिलन' करूंगा तुमसे।'

मनु ने भी दार्शनिक-से नाट्य-संवाद बोले जिन्हे सुनकर वासवदत्ता की भृकुटि तन गयी। बोली—'मैं जैसे-जैसे प्रश्न पूछूंगी, तुम वैसे-वैसे उत्तर दोगे ?'

'हा !'—केवल मस्तक से सकेत किया मनु ने।

'पवित्र साध से तुम्हारा क्या तात्पर्य है ?'

'केवल तुम्हें एकमात्र ग्रहण करना।'

'और अमर प्रणय से ?'

'मेरा और तुम्हारा प्रणय इस सृष्टि के रगमंच पर सदैव सम्मान की दृष्टि मे देखा जाए ?'—पूर्ण अपनत्व था मनु के स्वर में।

वासवदत्ता ने मनु को एक अबोध बालक समझकर उसके मस्तक पर स्नेहानुरजित कर फेरा—'मनु ! यह मेरा गृह गृह नही, एक अभिनय-शाला है, जहा कितने ही अभिनेता अभिनय करके चले गए हैं। तुम नही जानते कि तुमसे भी मेधावी पुरुष, लक्षाधीश, सेट्ठिपुत्र, सामन्त मेरे चरणों की धूलि बन जाने को लालायित रहे। मैंने उन्हें भी श्रीहीन करके अपने गृह

का सीधा पथ दिखा दिया।...जानते हो क्यों? इसलिए कि वे नृशंस हिंस्र जन्तु थे। वे चाहते थे—मेरे सौन्दर्य को विकृत करना। इस मगलामुखी के समक्ष चन्द चांदी की मुद्राएं फेंककर उसे अपने जाल में फंसाना, फिर इस तन के उज्ज्वल सौन्दर्य को अपनी वासना के मर्म आघातों से निस्तेज कर देना, पर वे ऐसा नहीं कर सके।'

कुछ क्षण पूर्व जो उसके मुख पर सुलभ भाव थे अब वे उस बन्दी सैनिक के तप्त उद्वेगों के रूप में बदल गए थे जिसकी परवशता पर अन्य सैनिक कृत्रिम सहानुभूति प्रकट करते हैं, पर उस सहानुभूति का फल कुछ भी नहीं निकलता है।

वासवदत्ता ने पुनः कहा—'क्योंकि मैं भी अपना भविष्य सुरक्षित रखना चाहती हूं। मैं जानती हूं कि जब तक यह रूप है तब तक सब है, जब यह रूप नहीं होगा तो कोई भी यहां नहीं होगा।'

'ऐसा न कहो?'—मनु बोला पर उसकी आत्मा ने उससे कहा—'तुम्हारे अन्तर की बात जान ली है इसने?'

'क्यों न कहूं?'—वासवदत्ता बोली।

'इसलिए कि मैंने तुम्हारी प्रत्येक इच्छा को पूर्ण किया है।'

'और उस समय तक करते रहोगे जब तक मैं तुम्हारी केवल एक इच्छा को पूर्ण न करूं?'

'लेकिन मेरे बारे में तुम्हें ऐसे कुविचार नहीं रखने चाहिए?'

'क्यों नहीं?'

'क्योंकि मैं तुमसे आत्मिक अनुराग रखता हूं।'

'आत्मिक अनुराग की परिभाषा भी जानते हो?'

प्रश्न जटिल था अतः मनु आश्वस्त होता हुआ बोला—'आत्मिक अनुराग की परिभाषा यही है कि मैं तुम्हें जीवन भर तन, मन और धन से अपनाकर रखूं।'

'और तुम्हारी पत्नी?'

'पत्नी! वह तुम्हारी तनिक बाधक नहीं बन सकती। हम सामन्त हैं। विलास के सागर में आनन्द लेना हमारी परंपरा है। हम कई स्त्रियां रख सकते हैं।'

'इसलिए ही तो कहती हू कि तुम मेरा उपभोग कर सकते हो, ग्रहण नही कर सकते।'—वासवदत्ता सयत स्वर में बोली—'मनु! यदि तुम मेरा प्यार वास्तव मे पाना चाहते हो तो तुम्हें अपनी पत्नी का परित्याग करना पडेगा ताकि तुम्हारा प्यार अजस्र धारा की भाति केवल मेरे अन्त करण की वसुन्धरा पर ही प्रवाहित हो।'

मनु मौन रहा। उसे वासवदत्ता पर रोष आया—'तुम ऐसा प्रश्न कर देती हो जिसका समाधान दुर्लभ होता है।'

'सामन्त! जब सत्य नग्न होकर व्यक्ति के सम्मुख आता है तो व्यक्ति तिलमिला उठता है। कहना जितना सहज है करना उतना ही दुष्कर है। यहा आगन्तुक श्रेष्ठ अभिनय कर सकता है, प्रभावशाली संवाद बोल सकता है पर वह ऐसी वस्तु नहीं दे सकता जिसकी मुझे आवश्यकता है।'

मनु हतप्रभ-सा वासवदत्ता की ओर निहारता रहा।

उसने देखा और देखकर समझा कि आज इस शारदीय पूर्णिमा-सी सुधामयी मोहिनी के मुख पर व्यथा का विपुल विषाद घोर आन्दोलन कर रहा है। हृदय भयंकर विस्फोट करने वाला है, ये उसके नयन बता रहे थे।

और कुछ ही देर बाद उसने देखा कि उसकी उन्मन आंखें निर्झरणी बन गयी हैं।

तब मनु झल्ला पडा—'आखिर तुम चाहती क्या हो?'

'मैं चाहती हूं—वह मन-मन्दिर जहां राम हो और राम के साथ निर्भय सीते। मैं चाहती हूं—वह सरोवर जहां प्रणय पंकज अपनी समस्त कलाओं के साथ विकसित हो और यदि उसे सूर्य रश्मियों के सिवाय कोई स्पर्श भी कर ले तो मुरझा जाए। मैं चाहती हूं—वह हृदय जिसकी धड़कनों से यदि मैं अपनी धड़कन मिलाऊं तो विचारों मे कोई आघात न लगे।··· लेकिन मैं देखती हू यहां आने वाले व्यक्ति मुझ जैसी लाचार नारी को अपनी पिपासा की शान्ति का उपाय समझते हैं।···वे समझते हैं कि इसका कुन्दन-सा तन केवल उपभोग के लिए है। हमारी उस वासना की तृप्ति के लिए है जो समय-समय पर ज्वार-सी उठती है।··· इसके साथ-साथ तुम्हारे देश के धर्म, समाज और सत्ता के स्वामियों ने मुझे तो सामाजिक उपभोग की वस्तु बना डाला है और मेरी गृहणी की सभी कामनाओं को न्यायिक

रूप से निषेध कर दिया।'···'मनु !'—वासवदत्ता के हृदय का रोष नयन-नीर बनता ही गया—'यह हृदय इतना त्रस्त हो चुका है कि कभी-कभी यह अपने बाह्य सौन्दर्य मे तुम्हारे देश, धर्म, समाज और सत्ता का सर्वनाश कर देना चाहता है।···विचारों में म गर्व की भावना उठती है जो निष्कर्ष मे परिवर्तित होती-होती निर्बल हो जाती है और मैं प्रतिशोध लेते-लेते रुक जाती हूं।···पर अब रुकूंगी नही श्रीमन्त ! इस वैभव के चतुर्दिक आवर्तन मे एक ज्वाला जलाना चाहती हूं और इसको भस्मीभूत करके कही दूर पलायन करना चाहती हूं।'

क्षण भर का अन्तराल !

'मनु !'—वासवदत्ता के अश्रु पूर्णवेग से बहने लगे—'पथ का साधारण व्यक्ति भी मेरे प्रेम को एक अभिनय समझता है। वह कहता है—गणिका किसी की पत्नी नही हो सकती है ? वह प्रेम करना क्या जाने ? और मनु ! छल, मिथ्या प्रतिज्ञाए, निराधार विश्वास और प्रपची प्रेम से अब मैं ऊब चुकी हू। अब मैंने सोच लिया है कि गणिका का जीवन अभिशप्त अगारो की धारा पर चलता हुआ अन्त मे जरा के पंक मे सिसकता-सिसकता समाप्त हो जाता है। इसलिए मेरे पास अपार सम्पत्ति होनी चाहिए और तत्काल मेरे पास धन होगा तो मेरा जीवन सुखी होगा अन्यथा मेरे लिए श्वान-मृत्यु निश्चित है।'

'जो मुझे कहता है—मैं तुमसे प्रेम करता हूं, उसे मै सबसे बडा छली समझती हूं।

'जो मुझे कहता है—मैं तुम पर सर्वस्व अर्पण करना चाहता हूं उसे मैं सबसे बडा स्वार्थी समझती हूं और···'

वासवदत्ता इसके आगे कुछ बोले कि मनु उठकर द्वार की ओर बढा। वासवदत्ता उसे रोकती हुई बोली—'जा क्यो रहे हो मनु ?'

'मैं कल आऊगा !' कहकर मनु द्वार से बाहर हो गया।

वासवदत्ता अट्टहास करके शय्या पर विक्षिप्त-सी पड गयी। सो गयी।

१६

नवीन प्रभात नूतन आशा लेकर आया।

आज वासवदत्ता अत्यन्त व्यग्रता से अपने विशाल भवन के तोरणद्वार पर खड़ी-खड़ी आचार्य उपगुप्त की प्रतीक्षा कर रही थी।

उसकी आंखें बार-बार उससे एक प्रश्न कर बैठती थी कि उपगुप्त का सौन्दर्य कितना अद्वितीय और अलौकिक है!

दो दण्डपाशुल आज नवीन वसन पहने बड़ी सतर्कता से पहरा दे रहे थे।

भवन की समस्त परिचारिकाएं आज स्फूर्ति से भवन को और भवन के प्रत्येक कक्ष को सज्जित करने में तन्मय थी।

समस्त कक्षों मे सुगन्ध फैली हुई थी।

तोरणद्वार पर दो लावण्यमयी युवतियां पुष्पों के थालों में पुष्प सज्जित किए स्वागतार्थ खड़ी थी। इन दो युवतियों के आगे दो अन्य युवतियां खड़ी थी, जो अतिथि के आगमन पर अपने आंचलो से पथ की धूलि झाड़ेंगी। इसके साथ कई और परिचारिकाएं थी जो अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करने हेतु अत्यन्त तत्पर दौड़ रही थी।

नियत समय पर प्रतिहार ने आकर संवाद सुनाया कि बौद्ध-भिक्षु आचार्य उपगुप्त पधार गए है। वे नितान्त एकाकी हैं।

संवाद सुनते ही वासवदत्ता ने दण्डपाशुलों तथा परिचारिकाओं को सावधान किया और स्वयं द्रुतगति से अपने श्रृंगार-कक्ष मे आ गयी।

गर्विता नायिका की भांति आज उसने पल भर के लिए दर्पण में अपने मुख को देखा—स्वयं अपने पर मुग्ध हो गयी। उसके गौरवर्ण पर स्वर्णिम आभा ऐसे छिटक रही थी जैसे अर्ध-विकसित चम्पे के कुसुम पर। उसके काली घटा की भांति उमड़े घने कुन्तल उसके स्निग्ध कन्धों पर लहरा रहे थे। प्रतीक्षारत खञ्जन-नयन अनुराग से अपनत्व की नयी सृष्टि की रचना कर रहे थे।

किंचित मोहक स्वर मे वासवदत्ता अपने आप बोली—'यदि सौन्दर्य का आदान-प्रदान सौन्दर्य हो जाए तो कितना श्रेष्ठ हो?'

तोरणद्वार के दण्डपाशुल ने भिक्षु के आगमन का समाचार उच्च

स्वर मे पुन. सुनाया।

वासवदत्ता द्रुतगति से द्वार की ओर भागी।

भगवान बुद्ध के परम आदर्शो के श्रेष्ठ प्रतीक आचार्य उपगुप्त ने कौषाय वस्त्र पहन रखे थे। भवन प्रवेश करते ही वासवदत्ता ने उनके चरण स्पर्श किए। अशैक्ष उपगुप्त ने उसे आशीर्वाद दिया।

वासवदत्ता को विदित हुआ—इस दिव्य पुरुष की चरण-रज से यह भवन एक अलौकिक आभा से आलोकित हो गया है। इन निर्जीव पाषाणों मे एक अदृश्य जीवन सचारित हो उठा है। उसने हाथों से भवन मे प्रवेश करने का सकेत किया—आचार्य उपगुप्त को।

महाप्रभु के पथ के कर्त्तव्यपरायणी-वीतरागी-भिक्षु के चरण रखने के पूर्व दोनो परिचारिकाओं ने उपगुप्त को पुष्प मालाए पहनानी चाही। भिक्षु ने हाथ से रोकने का सकेत करके कहा—'भिक्षु के लिए अपराह्न का भोजन, नत्य-गीत, मालादि शृंगार, महार्घ-शय्या तथा सोना-चादी सब त्याज्य है।'

चरण भीतर की ओर बढ़ते गए। दोनो परिचारिकाए अपने-अपने आचलो से पथ-धूलि साफ कर रही थीं।

केलि-भवन के मध्य एक अत्यन्त सुन्दर चन्दन की वेदी थी। उस पर मृगछाला बिछी थी।

वासवदत्ता के अनुरोध पर आचार्य उपगुप्त ने आसन ग्रहण किया। उनके द्वारा आसन ग्रहण करने के पश्चात् वासवदत्ता किंचित हास से बोली—'भिक्षु के स्वागत मे किसी प्रकार की त्रुटि तो नही रही?'

अपने करुण नेत्रों को ऊपर की ओर उठाकर उपगुप्त बोले—'जिनकी लालसा तृप्त है, वे किसी भी कार्य मे त्रुटि नहीं निकालते।'

'तो मै समझू कि भिक्षु ने मेरा आतिथ्य-सत्कार हृदय से पसन्द किया?'

'निस्सन्देह!'

'मैं अपना अहोभाग्य समझती हूं।'—वासवदत्ता ने अपना आचल एक बार तन पर से उठाकर फिर कटि-प्रदेश के चारो ओर से कस लिया।

आचार्य उपगुप्त ने एक क्षण मौन रहकर महाप्रभु का ध्यान लगाया—'परित्राण धर्मदेशना, परित्राण धर्मदेशना।'

मन्त्र के स्मरण से उनके हृदय की करुणा विराट् हो गयी। उन्होंने

निर्मल मन से पूछा—'भद्रे ! कल के वाद-विवाद से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि तुम्हे किसी भिक्षु से प्रणय हो गया है ?'

जैसे नीरवता मे अकस्मात नूपुर बज उठते हैं, ठीक उसी प्रकार वासवदत्ता बोली—'हा देव ! एक ऐसे कर्त्तव्यनिष्ठ भिक्षु से मेरा प्रेम-सम्बन्ध हो गया है जिसकी मधु स्मृतियों का आन्दोलन मेरे जीवन के हर क्षण मे होता है और होता रहेगा। पर···।'

'यह बात है तो तुम्हारा प्रयत्न विफल होगा भद्रे ! अपने को परिवर्तित करने का प्रयास करो। अप्राप्य वस्तु के पीछे भागना बुद्धिमानी नही। अमूल्य जीवन को निरुद्देश्य व्यतीत करके अल्पकाल के पश्चात् तुम्हे केवल पश्चात्ताप ही करना पड़ेगा। व्यर्थता का बोध होगा।'

'नही भिक्षु ! मैं उसे प्रेम-सिंचित कर से स्पर्श कर सकती हूं।'—कहकर वासवदत्ता ने आचार्य उपगुप्त का हाथ अपने हाथ मे ले लिया—'पर वह मुझे किस भावना से स्पर्श करने देता है, इससे मैं अज्ञात हूं।'

इन्द्रिय-विजित भिक्षु के चेहरे पर उन स्पर्श मे तनिक भी परिवर्तन नही आया। उनके नेत्र अचचल थे जैसे पाषाण। वे शान्त थे। जैसे शून्य स्थान। वे नेत्र मूदकर सयत स्वर में बोले—'मन पाप का आगार है। यदि इस आगार को श्रेष्ठ व सद्विचारो से पूर्ण कर लिया जाए तो कलुषता को प्रश्रय पाने का स्थान ही नही मिलेगा।'

भिक्षु ने जब वाक्य समाप्त किया तब वासवदत्ता ने उसकी ओर निहारा। चौडे भाल पर दिव्य आलोक दीप्त था। उस आलोक के कारण उसका यौवन और स्वर्गीय देव-सा तन निश्छल लगने लगा था। वासवदत्ता उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गयी।

विमूढ-सी वह भिक्षु के चरणों को सहलाने लगी।

भिक्षु जडवत् रहा, गतिहीन रहा।

तपाक से बोला—'स्पर्श करने के पूर्व स्पर्श की भावना पर प्रकाश डालो भद्रे ?'

'भावना वही है, जिसकी साधना आज मेरे मानस-मन्दिर मे घोर आन्दोलन कर रही है।'

'उस साधना पथ के अन्त के सत्य को जानना चाहता हू ?'

'कार्य परिणाम का द्योतक है। अतः भिक्षु निर्विरोध रहो और मुझे अपना कार्य करने दो ?'

'नही, मैं इस बात का अभ्यस्त नही कि सार को असार समझू और असार को सार, अस्पष्टता के रहस्य मे बद्ध होना मेरा लक्ष्य नही है अतः जो सत्य है, उससे मैं भिज्ञ होना चाहता हू ।'

'तो सुनो।'

'···।' – निर्वाक हो देखता रहा भिक्षु वासवदत्ता को और वासवदत्ता उसके नयनो मे अपने नयन गाडकर, कम्पित स्वर मे बोली—'भिक्षु ! यह स्पर्श मेरे प्रणय का प्रथम चरण है ?'

'तुम्हारे प्रणय का ?'—भिक्षु हठात् वेदी से उठ गया।

'हा भिक्षु ! संसार को अपने सौन्दर्य से पराजित करने वाली यह सुन्दरी तुमसे प्रणय-दान मागती है।'

'प्रणय !'—उपगुप्त हंस पडा—'भिक्षुओ से भिक्षा की माग सर्वथा अनुचित है। मांगना उसी से चाहिए जिसके पास कुछ देने को हो। हम तो सर्वस्व प्रभु को दान दे चुके हैं। हमारे पास आशीर्वाद के अतिरिक्त कुछ नही है।'

'मैं उसी से माग रही हू जिसके पास सर्वस्व है—कुबेर का भण्डार और दरिद्र की दया।'—वासवदत्ता उसकी ओर बढी।

उपगुप्त शात स्वर मे बोले—'मुझे भिक्षा दो, मैं जाना चाहता हू। समय का सदुपयोग मेरे लिए अनिवार्य है।'

'भिक्षा लोगे तुम !'—विचित्र भगिमा थी सुन्दरी की !

'आतिथ्य-सत्कार को इसीलिए स्वीकार किया था।

'फिर भिक्षा-पात्र बढाओ।'

'लो।'—भिक्षु का पात्र बढा।

वासवदत्ता के युग्म-कर पात्र पर विस्तृत हो गए।

विस्मय-विमूढ भिक्षु ने वातुल वामाक्षी को देखा—'भद्रे ! भिक्षा प्रदान करने वाले हाथ रिक्त क्यों ?'

'रिक्त !' वासवदत्ता ऐसे बोली'जैसे इस शब्द में उपहास है—'कदाचित् संन्यासी को दृष्टि-भ्रम हो गया है।'

'मुझे दृष्टि-भ्रम हो गया है !' वे गभीर हो गए।

'तभी तो मेरे परिपूर्ण हाथों को रिक्त बता रहे हो ?'

'परिपूर्ण !······ओह ! अपने करो के आभूषण तुम मुझे भिक्षा मे देना चाहती हो ?'

'नही, आभूषण तो तुम्हे प्रत्येक श्रेष्ठिपुत्र और सामन्त भी दे सकता है।'

'तो ?' नग की भांति चमक उठा विस्मय भिक्षु की आंखों में।

'भिक्षु ! इन रिक्त हाथों मे एक दुर्लभ वस्तु है। यदि तुम्हारी आत्मा उसे पहचान सकती है तो पहचानो। अन्तर्मन के नेत्र खोलो।'

भिक्षु ने चंद पल के लिए अपने नेत्र मूदकर विचारा।

'क्या सोचा ?'

'रिक्त हाथों मे अदृश्य वस्तु वासना है, क्यो, ठीक है न भद्रे ?'

'वासना नही, प्रणय······केवल प्रणय ही नही, प्रणय मे परिपूर्ण हृदय भी।'

'हृदय ?'

'हा, मैं तुम्हे इस हृदय का सम्राट बनाना चाहती हूं।'

'उस सम्राट की प्रजा कौन बनेगी ?'

'प्रजा ! हमारे हृदय के वेग, आवेग और उन्वेग, लालसाए, भावनाए, आशाए, तृष्णाएं—ये सभी ही हमारी प्रजा बनेंगी। तुम्हारे सम्राट होने पर विभुता-विप्लव की भाति हमारे जीवन मे उद्वेलित होगी, वोलो भिक्षु ! स्वीकार करते हो ?'

'क्यो नही !'

'भिक्षु।'

'हा वासवदत्ता, मैं तुम्हारे प्रणय-दान को स्वीकार करूगा।'

'इन कानों को विश्वास नही होता ?'

मैं भी असत्य भाषण नही करता ?'

'तो फिर मैं ··?'

'लेकिन अभी नही, समय के पूर्व मै किसी का भी प्रणय-दान स्वीकार नही कर सकता।'

'तो फिर कब आओगे यहा ?'

'एक वर्ष पश्चात् !'

'प्रतीक्षा करूं ?'

महाप्रभु के शिष्य मिथ्या-भाषण नही करते। किसी को विश्वास देकर विश्वासघात नही करते।'

'बैठो भिक्षु।'—वासवदत्ता ने वेदी की ओर संकेत किया—'भोजन से निवृत्त होकर एक बार मेरा नृत्यावलोकन तो कर लो।'

'नही भद्रे !'

'क्यो ?'

'तुम्हारे आतिथ्य का समय समाप्त हो गया। अब मुझे अन्य स्थान पर भाषण देने जाना है।'— इतना कहकर उपगुप्त तोरणद्वार की ओर अग्रसर हुए। पीछे थी वासवदत्ता। अपने मन के धैर्य के लिए जाते-जाते भिक्षु से पूछा—'प्रतिज्ञा विमुख तो नही होगे ?'

'विश्वास रखो।'

'चरणो मे प्रणाम।'

'कल्याण हो।'

तत्पश्चात् भिक्षु उपगुप्त के अधरो पर गूंज पडा—

बुद्धं सरण गच्छामि
धम्मं सरण गच्छामि
सघं सरणं गच्छामि।

१७

मनु ने गृहलक्ष्मी के प्रार्थना भरे शब्दो को अनसुना कर दिया।

क्रोध में रौद्र बना चरणों में धराशायी गृहलक्ष्मी पर मनु ने तीव्र पदाघात किया। जन्मजात संस्कारों में पली 'पति परमेश्वर' के सिद्धात की पोषिका गृहलक्ष्मी पदाघात खाकर तिलमिलाई नही अपितु करुण-क्रन्दन

'मुझे दृष्टि-भ्रम हो गया है !' वे गंभीर हो गए।

'तभी तो मेरे परिपूर्ण हाथों को रिक्त बता रहे हो ?'

'परिपूर्ण !······ओह ! अपने करों के आभूषण तुम मुझे भिक्षा में देना चाहती हो ?'

'नही, आभूषण तो तुम्हे प्रत्येक श्रेष्ठिपुत्र और सामन्त भी दे सकता है।'

'तो ?' नग की भांति चमक उठा विस्मय भिक्षु की आंखों में।

'भिक्षु ! इन रिक्त हाथो में एक दुर्लभ वस्तु है। यदि तुम्हारी आत्मा उसे पहचान सकती है तो पहचानो। अन्तर्मन के नेत्र खोलो।'

भिक्षु ने चद पल के लिए अपने नेत्र मूंदकर विचारा।

'क्या सोचा ?'

'रिक्त हाथों मे अदृश्य वस्तु वासना है, क्यो, ठीक है न भद्रे ?'

'वासना नही, प्रणय······केवल प्रणय ही नही, प्रणय मे परिपूर्ण हृदय भी।'

'हृदय ?'

'हा, मैं तुम्हे इस हृदय का सम्राट बनाना चाहती हूं।'

'उस सम्राट की प्रजा कौन बनेंगी ?'

'प्रजा ! हमारे हृदय के वेग, आवेग और उन्वेग, लालसाएं, भावनाए, आशाए, तृष्णाए—ये सभी ही हमारी प्रजा बनेंगी। तुम्हारे सम्राट होने पर विभुता-विप्लव की भांति हमारे जीवन मे उद्वेलित होंगी, बोलो भिक्षु ! स्वीकार करते हो ?'

'क्यो नही !'

'भिक्षु।'

'हा वासवदत्ता, मैं तुम्हारे प्रणय-दान को स्वीकार करूंगा।'

'इन कानो को विश्वास नही होता ?'

मैं भी असत्य भाषण नही करता ?'

'तो फिर मैं ··?'

'लेकिन अभी नही, समय के पूर्व मैं किसी का भी प्रणय-दान स्वीकार नही कर सकता।'

'तो फिर कब आओगे यहां ?'

'एक वर्ष पश्चात् !'

'प्रतीक्षा करूं ?'

महाप्रभु के शिष्य मिथ्या-भाषण नही करते। किसी को विश्वास देकर विश्वासघात नही करते।'

'बैठो भिक्षु।'—वासवदत्ता ने वेदी की ओर सकेत किया—'भोजन से निवृत्त होकर एक बार मेरा नृत्यावलोकन तो कर लो।'

'नही भद्रे !'

'क्यों ?',

'तुम्हारे आतिथ्य का समय समाप्त हो गया। अब मुझे अन्य स्थान पर भाषण देने जाना है।'— इतना कहकर उपगुप्त तोरणद्वार की ओर अग्रसर हुए। पीछे थी वासवदत्ता। अपने मन के धैर्य के लिए जाते-जाते भिक्षु से पूछा—'प्रतिज्ञा विमुख तो नही होगे ?'

'विश्वास रखो।'

'चरणों मे प्रणाम।'

'कल्याण हो।'

तत्पश्चात् भिक्षु उपगुप्त के अधरों पर गूज पडा—

बुद्धं सरणं गच्छामि
धम्मं सरणं गच्छामि
सघं सरण गच्छामि।

१७

मनु ने गृहलक्ष्मी के प्रार्थना भरे शब्दो को अनसुना कर दिया।

क्रोध मे रौद्र बना चरणों मे धराशायी गृहलक्ष्मी पर मनु ने तीव्र पदाघात किया। जन्मजात संस्कारो में पत्नी 'पति परमेश्वर' के सिद्धांत की पोषिका गृहलक्ष्मी पदाघात खाकर तिलमिलाई नही अपितु करुण-क्रन्दन

करने लगी—'मेरे प्रभु ! मुझे क्षमा कर दीजिए कि मैंने आपसे धृष्टता की। मैंने आपका विरोध करते समय बस इतना ही सोचा था कि आप मेरे पति है, केवल पति, न कि एक अभिजात वर्ग के प्रतिनिधि, एक सामन्त पुत्र, एक आर्यपुत्र जो हर वस्तु का स्वतन्त्रता से उपभोग भी कर सकते हैं। स्त्री जिनके लिए, अर्धांगिनी नही, भोग्या है।'

गृहलक्ष्मी की प्रार्थना मनु ने स्वीकार कर ली। उसका क्रोध शान्त हो गया। 'भविष्य मे ऐसी गलती न हो।'

बात यह थी कि आज प्रात काल मनु की निद्रा और दिनों की अपेक्षा अधिक देर से भग हुई थी। नगर मे प्रवासी व्यवसायियों का आवागमन होना प्रारम्भ हो गया था। गृहलक्ष्मी भी भगवद्-भजन में निमग्न थी। तभी दंडपाशुल ने आकर कहा—'स्वामी से एक प्रवासी व्यापारी भेंट करना चाहता है।'

गृहलक्ष्मी ने दडपांशुल को कहा—'उनको अतिथिशाला मे ठहराओ और कहो कि वे अभी सो रहे है।'

दडपाशुल चला गया।

गृहलक्ष्मी पुन. भगवद्-भजन मे तन्मय हो गयी।

पाच पल बीते ही होंगे कि दडपांशुल ने आकर पुनः निवेदन किया—'वे स्वामी से अभी ही भेंट करना चाहते है, कहते है कि उनका उनसे एक अत्यावश्यक कार्य है।'

गृहलक्ष्मी ने दडपाशुल की बात सुनकर अत्यन्त सयत स्वर मे कहा—'आगन्तुक से निवेदन करके कहो कि उनकी विशेष आज्ञा है कि जब वे निद्रा मे हों तो उन्हे कोई नही जगाए। इसीलिए उन्हे प्रतीक्षा करना अनिवार्य है।'

दडपांशुल चलने को उद्यत हुआ ही था कि देविका ने आकर कहा—'स्वामी जग गए हैं, वे शौचादि से निवृत्त होने भी चले गए है।'

'उन्हे जाकर यह सवाद तो सुना दो कि. एक प्रवासी अतिथि आपसे भेंट करने को व्यग्र है।'

'जो आज्ञा !'—देविका चली गयी।

अल्पकाल के पश्चात् प्रवासी व्यापारी ने, जो वेशभूषा से दक्षिणांचल

जान पड़ता था, मनु से भेंट की।

सर्वप्रथम व्यापारी ने सक्षेप मे अपना परिचय दिया। अपनी विशेषताओं और अनुभवों पर प्रकाश डाला तब मनु से अपने व्यापार की बात करने लगा—'देखिए श्रीमन्त ! मेरे पास एक अत्यन्त लावण्यमयी युवती विक्रय के लिए है और मैंने सुना है कि श्रेष्ठ वस्तु आपके यहाँ सहजता से विक्रय की जा सकती है।'—इतना कह व्यापारी ने चतुर्दिक दृष्टिपात किया।

'हा मैं दासियों का क्रय अवश्य करता हू पर वस्तु श्रेष्ठ होनी चाहिए; वह भी सभी दृष्टिकोण से।'—मनु की दृष्टि व्यापारी के चरणो पर टिकी हुई थी।

व्यापारी मनु के भावो को ताडता हुआ बोला—'श्रेष्ठ वस्तु ही श्रेष्ठ व्यक्तियो के पास लायी जाती है श्रीमन्त ! आप केवल एक दृष्टि भर देख लीजिए। कथन कुछ और होता है और प्रत्यक्ष कुछ और।'

'जैसी आपकी इच्छा।'—मनु के भाल मे बल पड़ गए।

व्यापारी भवन से बाहर चला गया।

तोरणद्वार से पन्द्रह वर्षीय एक युवती ने प्रवेश किया। युवती साधारण गौरवर्ण की थी। इतनी गौरवर्ण की नही कि जितनी उत्तराखण्ड की युवतियां हुआ करती हैं। तो भी युवती दर्शनीय थी।

यौवन के उठते उद्दाम के कारण उसका अग-प्रत्यग ऊषाकाल की सुषमा लिए अरुणिम था। अग सौष्ठव मे दक्षिण भारतीय स्त्रियो की मासलता पूर्णतया विद्यमान थी। नयनों की मादकता आकुलता के कारण विचित्र-सी लग रही थी।

मनु ने लोलुपता भरी दृष्टि से उस युवती को देखा। जिह्वा को साप के फन की भाति कई बार अधरो पर दौड़ाया। तब मनु के ऐश्वर्य सम्पन्न मन ने कहा—'यौवन !···पूर्ण यौवन।'

और युवती अज्ञात भयभीत कल्पना मे किंकर्त्तव्यविमूढ-सी खड़ी थी।

मनु ने व्यापारी की ओर दृष्टि की। व्यापारी ने उसके तात्पर्य को समझा—'युवती आज्ञाकारिणी है श्रीमन्त, आपकी सेवा तन-मन-धन से करेगी।'

'इसका मूल्य ?'

'श्रीमन्त की इच्छा पर !'

'तो आप प्रस्थान कीजिए, अल्पकाल के उपरान्त आप यहां आकर अपना मूल्य ले जाइएगा लेकिन युवती से कह दीजिए हमारी अवज्ञा मृत्यु का आह्वान वन सकती है ।'

प्रवासी व्यापारी युवती के निकट गया—'बाले ! आज से तुम्हारे स्वामी श्रीमन्त मनु है । सामन्तपुत्र मनु की आज्ञा का पालन तुम्हारा धर्म है । तुम एक दासी हो, अतः एक दासी को अपने कर्त्तव्य को कदापि विस्मृत नही करना चाहिए ।'

बाले ने अपना मस्तक झुका दिया ।

मनु ने परिचारिका देविका को बुलाकर आज्ञा दी—'इसे स्वच्छ वस्त्र पहना एवं पुष्पों से सज्जित करके आज अपराह्न-काल हमारे केलि-भवन मे पहुंचा देना ।· देखो, शृंगार मे किसी प्रकार का अभाव का भास न हो ।'

जब गृहलक्ष्मी ने यह समाचार सुना तो उसका रोम-रोम दहक उठा, तडप उठा । मन मे विचार दामिनी की भांति कौंधने लगे—'अपने को सभ्य-शिष्ट और सद् कहने वाले सामन्तपुत्र क्रीतदासियो के संग कितना अमानुषिक व्यवहार करते हैं कि मानवता तक काप उठती है, संकोच से गड जाती है ।'

आहत भुजगिनी-सी फुत्कारती हुई गृहलक्ष्मी मनु के निकट गयी और अधरो को दांतों मे काटती हुई बोली—'प्रभु ! यह कैसा अत्याचार ?'

'अत्याचार !'···हठात् मनु बोला—'कौटुम्बिक परम्परा को तुम अत्याचार कहती हो, आश्चर्य है !'

'यह परम्परा किसी के प्राण ले बैठेगी ?'

'मूढता पर एक प्राण क्या सहस्र प्राण भी मिट सकते हैं । तुम ! तुम ऐसे कार्यों का विरोध ही क्यों करती हो जो हमारे लिए सदैव अपेक्षणीय रहे हों, जिन्हे तुम रोकने मे सर्वथा असमर्थ हो ।'

'इस अपेक्षणीयता को आपको रोकना ही पडेगा । मैं आपकी पत्नी हू और एक पत्नी अपने सामने इतना अनाचार होना कैसे देख और सह

सकती है ?'

'इसका तात्पर्य तो यही हुआ कि तुम हमारी आज्ञा की अवज्ञा करोगी ?'

'सर्वथा।'

'परिणाम ?'

'प्रभु के हाथ है।'

'जानती हो, मेरे मध्य प्राचीर बनकर आने वाले का विनाश निश्चित है।'—मनु का रोष तीव्र हुआ—'भला इसी में है कि भारतीय पत्नी बनकर रहो, पति को परमेश्वर तथा उसके वचनों को ईश्वरीय आज्ञा समझो।'

मनु इतना कहकर के गृहलक्ष्मी को घूरता-घूरता अतिथिशाला से बाहर हो गया।

गृहलक्ष्मी भी अपने कक्ष में आकर बैठ गयी। देविका को कम्पित स्वर में पुकारा—'देविका।'

'आज्ञा।'—देविका ने नत सिर होकर कहा।

'जाओ, वाले को यहां ले आओ।'

'जो आज्ञा ?'—कहकर देविका जाने को प्रस्तुत हुई कि मनु का निर्मम स्वर सुनायी पड़ा—'उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। तुम उसका शृंगार करो।'

'शृंगार या सहार ?'—गृहलक्ष्मी बोली।

'इतनी अशिष्टता है तुम में ?'

'जब नारी अपनी शालीनता का त्याग करके रणचण्डी का रूप धारण करती है तो···।' गृहलक्ष्मी आवेश में कांपने लगी।

'देविका तुम खड़ी-खड़ी क्या देख रही हो···जाओ।' मनु की आज्ञा पर देविका भयभीत-सी चली गयी।

'तो ?' मनु प्रहार करने हेतु गृहलक्ष्मी की ओर बढ़ा।

गृहलक्ष्मी भयभीत नयनों से देख रही थी।

'तो मैं ही तुम्हें सदैव के लिए मिटा दूंगा।' —मनु गरजा। तड़प उठा। उसके नेत्रों में हिंसा दहक उठी।

'मेरे प्रभु ! संयत से काम लीजिए।'

'प्रभु सम्बोधित करने वाली दुष्टा ! पति की आज्ञा की अवज्ञा करते हुए तुम्हे सकोच नही आया ? ··निर्बुद्धे कही की, भारतीय नारी होकर भारतीयता का त्याग करना तुम्हारी हेयता का प्रतीक नही ? ···स्मरण करो, उस सती नारी की कथा को जो अपने अपग पति को कन्धों पर बिठा करके प्रत्येक रात्रि को गणिका के यहां ले जाया करती थी और तड़के पुन. लाती थी। ··और एक तुम हो जो उसी के वशज को आमोद-प्रमोद के लिए वर्जित करके उसके स्वाभिमान पर आघात करती हो।'

'पर ··?'

'पर से किसी भी सुफल की प्राप्ति नही हो सकती। यदि तुम इस भवन मे सुखी जीवन व्यतीत करना चाहती हो तो चरण-दासी बन करके रहो अन्यथा मनु का कोप तुम जानती ही हो। तुम्हे प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा।'

आतकित गृहलक्ष्मी मनु के भयानक निश्चय से विचलित हो गयी। पति परमेश्वर के चरणो मे पड़कर क्षमा-याचना की और नारी-शोषक मनु अपनी विजय पर गर्वोन्नत हो गया। बोला—'मनु को एक नही कई पत्निया तुम्हारे जैसी मिल सकती है।'

गृहलक्ष्मी ने क्षमा मांग ली।

१८

अपराह्न-काल !

केलि-भवन ! !

क्रीतदासी वाले सुमनो मे सज्जित किन्नरी-सी लग रही थी।

सारा केलि-भवन सुगन्धित था।

देविका ने अन्तिम बार वाले के भाल पर बिन्दिया लगाते हुए कहा—'वाले ! आज तुम्हारे जीवन का नवीन अध्याय प्रारम्भ होगा, किस भांति

होगा, भगवान जाने?'

इतना सुनते ही बाले के नयन भय से आतंकित हो गए। अज्ञात आशंका से उसका रोम-रोम थर्रा उठा। कम्पनमयी दृष्टि से उसने देविका को देखा और देविका के अधरों पर विडम्बना की स्मित-रेखा धावित हो गयी।

देविका बाले को और बाले देविका को रहस्यमयी दृष्टि से देखती रही और देखते-देखते देविका केलि-भवन से बाहर हो गयी।

देविका के बाहर होते ही मनु ने प्रवेश किया।

आज मनु ने अपने तन और वसनों पर सुगन्धित द्रव्यों का अनावश्यक प्रयोग किया था। जिसके कारण सौरभ मह्क रहा था। नयनों मे आवेग का संघर्ष था।

एक पल बाले को क्षुधित दृष्टि से देखकर, मनु ने मधु-चपक की ओर संकेत किया—'बाले! मुझे मधु से चपक भरकर दो।'

बाले हतप्रभ-सी हो गयी।

तीव्र दृष्टि से उसने मनु को देखा—उसके नयनों के भाव स्पष्ट रूप मे ये थे कि यह पेय नितान्त हेय है। वह मूक खड़ी रही—स्पन्दनहीन।

'मेरे कथन पर तुमने ध्यान दिया?'

'हां श्रीमन्त!'—बाले ने मधु को चपक में उड़ेला और मनु को देने के लिए उसकी ओर अग्रसर हुई।

मनु ने मधु-चपक ले लिया—'सुन्दरी! मधु मधुबाला के कर से पेय करने में ही प्रियकर लगता है और वह अपना पूर्ण प्रभाव भी डालता है अतः तुम्हीं पिलाओ।'

बाले की आकृति पर विक्षेपण नर्तन कर उठा।

मनु चपक लेकर शय्या पर अर्धशायित हो गया।

कम्पित कर मे चपक की मधु हिल रही थी। मनु ने एक पल उसे ध्यान से देखा—'दूर क्यों खड़ी हो, निकट क्यों नहीं आती, जानती नहीं, हम तुम्हारे स्वामी हैं।'

बाले निस्पन्द-सी मनु की शय्या के सन्निकट आयी।

मनु ने चपक वाला हाथ बाले के मुंह की ओर बढ़ाया और उसका

दूसरा हाथ बाले की कटि प्रदेश के चतुर्दिक व्याल की भांति लिपट गया।

'पियो न बाले ?'

'नही।'

'क्यो ?'

'यह पेय पतनोन्मुखी है ?'

'एक किंकरी के लिए पतन-उत्थान दोनों ही बराबर हैं।'

बाले मौन हो गयी।

उसका आनन विश्री हो गया।

पुरुष की पिपासा मधु की आहुति पाकर पैशाचिक क्षुधा-सी भयंकर हो गयी।

नारी काप उठी।

पुरुष की उत्तेजना बढती गयी।

नारी, क्रीतदासी निर्विरोध रही।

उसके आत्मा मे एक प्रभंजन उठा।

पुरुष शकित हो गया पर उसके उर के प्रबल उद्दाम काम ने उसे और उकसाया।

नारी विद्रोहिणी बन गयी।

पुरुष ने प्रमादियों-सा अट्टहास किया।

नारी ने अपने सतीत्व की रक्षा हेतु भागने का प्रयास किया।

पुरुष ने नारी के चतुर्दिक प्राचीरें खड़ी कर दीं।

नारी विवश हो गयी।

करुण का आचल उसने पुरुष के समक्ष विस्तृत कर दिया।

पर पुरुष निर्दयी, निर्मोही और निर्मम निकला।

नारी को नोचने के लिए वह आतुर हो उठा।

परवश नारी ने प्रभु को पुकारा—अपने परित्राण के लिए।

प्रभु नही आया।

लेकिन नारी ने बार-बार प्रभु को पुकारा।

पर प्रभु एक बार भी नही आया। वह अपने परिणाम के लिए पुकारती रही—पुकारती रही और अन्त मे अचेत हो गयी।

१६

समय उडता जा रहा था।

शयनकक्ष मे जैसे ही दीपिका ज्वलित हुई वैसे ही वासवदत्ता ने शय्या पर सोते हुए निश्वांस छोडा।

उसका निश्वांस इस बात का प्रतीक था कि सुन्दरी को किंचित परिताप है। परिताप क्या था प्रणय-परिभूत वासवदत्ता के मन को शान्ति नहीं मिल रही थी।

संध्या पर रजनी का अधिकार हो गया था।

वासवदत्ता शय्या पर निढाल थी।

परिचारिका तिलोत्तमा ने प्रणत होकर पूछा—'आप भोजन कब करेंगी।'

वासवदत्ता ने कहा—'आज मैं भोजन नही करूंगी।'

तिलोत्तमा मुह लगी थी अतः तुरन्त बोली—'क्यों ?'

'सत्य भाषण करते भय लगता है। कदाचित् तुम भी मेरा परिहास कर बैठो।' प्रश्नभरी दृष्टि तिलोत्तमा पर स्थिर थी।

'नही, भृत्य अपने स्वामी सग ऐसी अशिष्टता थोडे ही कर सकता है ?'

'तिलोत्तमा ! उपगुप्त की दिव्य आकृति मेरे मन मे बस गयी है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसके बिना यह सौन्दर्य भारहीन है।

'तो फिर ?'

'उसे अपने प्रणय-बन्धन में बद्ध करके उसको साधनाच्युत कर दू। जानती हो, उसने मेरी, मेरे अनुपम रूप-यौवन को उपेक्षा की है अत उसे अपनी मादक दृष्टि से आहत करके अपना परमप्रिय बना लू।'

'ऐसा होना असम्भव है।······ क्योंकि वासना ने त्याग पर आज तक विजय नही पायी।'

'तुम तो सहज स्वभाव की हो। राजर्षि विश्वामित्र का घोर तप मेनका के सौन्दर्य व स्वर पर इस प्रकार विमोहित हुआ जिस प्रकार अहि बीन पर। शकुन्तला के अतुलनीय रूप पर आसक्त राजा दुष्यन्त अपनी अधीरता

को अल्पकाल के लिए नही रोक सके ओर उन्होने तुरन्त शकुन्तला से गधर्व विवाह किया। तुम क्या जानो तिलोत्तमा, और तो और, नारी-सौन्दर्य ने महर्षि नारदजी को भी वानर बनाकर नचा दिया।'—इतना कहकर वासवदत्ता सव्यग हस पडी। पलको को सभावार्थ झेंपाया जैसे वह तिलोत्तमा से पूछना चाहती है कि अब तुम क्या उत्तर दोगी ?

वासवदत्ता पुन: वोली—'अब तुम्हीं बताओ न, ऐसे पुरुषों का तप खडन तथा मर्यादा भग करने मे कितनी देर लगेगी?···पाप प्राणी को अपनी ओर तुरन्त आकर्षित कर लेता है।'

तिलोत्तमा एक अवोध श्रोता की भाति निश्चल बैठी रही, सुनती रही।

'मुझे ही देखो न ?'—वासवदत्ता ने अपने आपको सकेत किया—'मेरे सात्विक जीवन के समस्त साधन छीन लिए गए हैं। गृहलक्ष्मी को हाट की रानी बना दिया है। सेवा करके सृष्टि का संचालन करने वाली को यौवन विक्रय करने के लिए विवश कर दिया है।'

वासवदत्ता के कमलनेत्र तप्त अंगारों की भाति दहक उठे।

तिलोत्तमा निस्सार उश्वांस छोडकर गमन करने को उद्यत हुई जैसे उसे इन बातो से कोई प्रयोजन नही, तनिक भी लगाव नही।

उसके चले जाने के बाद वासवदत्ता भी किसी पीडा मे जलती हुई जागृतावस्था में शय्या पर पेट के बल सो गयी।

अभी तन्द्रा के मधुर झोंको ने उसे सहलाया ही था कि तिलोत्तमा आयी—'श्रीमन्त मनु पधारे हैं।'

वासवदत्ता के लोचन उपेक्षा से फैल गए—'जाकर कह दो कि वासवदत्ता नही है। वह जल-विहार करने के लिए···।'—वासवदत्ता अपना वाक्य पूरा करे, इसके पहले ही चिर-परिचित मनु की वाणी गूज उठी—'सरिता-कूल को चली गयी है अतः आप कल पधारिए।'

'मनु !'—वासवदत्ता चीखी।

'क्रोध की आवश्यकता नही।'—निश्छन्न भाव से हंस रहा था मनु। उसकी इस क्रिया मे वासवदत्ता को तीव्र व्यग का भास हुआ।

वह जल उठी—'मनु ! तुम विना आज्ञा के यहां क्यों आए ?'

'क्यो ?···क्या मुझे यहा आने का अधिकार नही ?'

'नही ?'

'क्यो ?'

'तुम मेरे हो कौन ?'

'मैं तुम्हारा हूं कौन ?'—पीडा से आहत-सा हो गया मनु।

'हां ! तुम हमारे हो कौन ?'—क्रोध से बोली वासवदत्ता—'मैं पूछती हू कि तुम हो कौन ?'

'मैं तुम्हारा प्रेमी हूं, अपना हूं।'

'तुम मेरे अपने हो ?'—जोर से विहस पड़ी—'मनु ! मेरे अपने दो ही हैं—एक है मेरा अपना तन, दूसरा है मेरा मन ?'

'और इस तन और मन पर मेरा कोई अधिकार नही ?'

'क्यो नही ?···मनु ! यह तन धन का है, जिसके पास धन है, यह तन उसी का है लेकिन मन की बात कुछ और है ?'

'इसका तात्पर्य ?'

'एक प्रवासी व्यापारी का यहां आगमन होने वाला है। मुझे उसके सग जल-विहार करने जाना है ?'

'मेरा इतना अपमान ?'

'मैं किसी का क्या अपमान कर सकती हूं ? गणिका हूं, अपने धर्म का पालन कर रही हूं।'

'मैं भी तुम्हें जितना चाहो धन दे सकता हूं ?'

'मनु ! मैं गणिका हूं, इतना ध्यान रखो !' धीरे से कहा वासवदत्ता ने—'आज मुझे उसके संग जल-विहार करने जाना ही पड़ेगा। मैं वचनाबद्ध हूं।'

'यह मेरा अपमान है वासवदत्ता, अपमान ?'—व्यथा से आहत मनु झुंझला उठा।

'गणिका के यहां आने वाले को अपमान-सम्मान पर सोच-विचार नही करना चाहिए।'—स्वर को परिवर्तित किया वासवदत्ता ने—'मेरी समझ में मैं तुम्हारा कोई अपमान नही कर रही हू, फिर तुम अपने मन में जैसा सोचो-समझो, वैसा कहो, मेरा कोई प्रतिरोध नही ?'

'पर तुम यह तो जानती ही हो कि मैं···?'

'अभिमान को त्यागो मनु ?'—वासवदत्ता रिक्त स्वर में बोली—'तुम सामन्त हो तो क्या हुआ ? मेरी इच्छा के विरुद्ध इस भवन का पत्ता तक नहीं हिल सकता ? यहां तुम्हें आना रुचिकर लगता हो तो आओ अन्यथा अभी ही चले जाओ, यह रहा रास्ता ?'

'और नहीं गया तो ?'— कृत्रिम हठ किया मनु ने।

'यह असम्भव है, मैं एक नहीं, तुम्हारे जैसे कितने ही सेट्ठिपुत्रों व सामन्तों का क्षण भर में ही एक वितान तान दूंगी और उनके समक्ष तुम्हें अपमानित करूंगी, धक्के देकर निकाल दूंगी।'

'क्या कहा ?'—मनु की मुट्ठियां बंध गयी। उसके मन में आया कि इस छलनामयी की ग्रीवा पकड़कर सदैव के लिए उसे महायात्रा करा दे पर परिस्थितिवश वह मौन रहा।

'धक्के देकर निकलवा दूंगी ?'—दंभ वासवदत्ता के नयनों में था।

'इतना साहस है ?' मनु गरजा !

'हां !'

'तुम नितांत पतित हो गयी हो।'—इस बार मनु की आंखों में क्रोध के साथ घृणा भी थी।

'पतित तो हूं पर तुम्हें अपनी वाणी पर शिष्टता का प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। जानते हो, अभी तुम मेरे गृह में हो।'

'तभी मैं शांत हूं अन्यथा अब तक···?' मनु ने दांतों से अपने निचले होंठ को काट लिया।

वासवदत्ता क्रोध के मारे चीख पड़ी—'मनु !'

'······।'—मनु दुर्वासा बना, द्वार की ओर बढ़ा।

उसके जाते ही वासवदत्ता चंद क्षणों तक मौन रही। मौन क्या रही, रोष ने उसके उर के घुटते भावों को प्रकट नहीं होने दिया। वह अपलक बैठी रही।

चंद क्षण निरुद्देश्य व्यतीत हुए।

तब वासवदत्ता तप्त स्वर में बोली—'ऐसा व्यवहार करता है जैसे मेरा पति हो।'—तुरन्त तिलोत्तमा को सम्बोधित करती हुई बोली—'तिलोत्तमा ! दंडपाशुल से आज्ञा कर दो कि भविष्य में श्रीमन्त मनु को

भवन मे प्रविष्ट न होने दिया जाए।'

'जो आज्ञा।'—तिलोत्तमा नत नयन-सी चली गयी।

वासवदत्ता का चित्त उद्विग्न हो गया।

भवन की प्राचीरों में उसका मन घुटने लगा। वह प्रकोष्ठ में आकर खड़ी हो गयी, अवसन्न-सी।

उसे रह-रहकर अपने पर पश्चात्ताप आ रहा था—'सर्व साधन-सम्पन्न मेरा जीवन दु.खी क्यों? उर्वरा वसुन्धरा पर अति की अर्णा का अवतरण क्यों?'

उसके प्रश्न का उत्तर उसके ही मन ने विहसकर दे दिया—'तुम्हें सन्तोष कहां है? तुम तो असन्तोष की अर्चिका हो।'

'हा! मैं असन्तोष की,…तिलोत्तमा!'—झुंझला उठी वासवदत्ता अपने आप पर।

तिलोत्तमा शकित दृष्टि मे अपनी स्वामिनी को देखने लगी।

'सारथी से जाकर कहो कि शिविका तैयार करें।'

'आज्ञा।'—तिलोत्तमा चली गयी।

तोरणद्वार पर रथ रुकने की आहट हुई। वासवदत्ता का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ ही था कि तिलोत्तमा ने आकर निवेदन किया—'एक अपरिचित प्रवासी व्यापारी आए हैं।'

वासवदत्ता ने अरुचि से कहा—'जाओ, उनसे नम्र निवेदन कर दो कि आज हमारी स्वामिनी निरोग नहीं है अत· आपका मनोरजन करने मे सर्वथा असमर्थ है।'

तिलोत्तमा जाने लगी, वासवदत्ता ने उसे तुरन्त रोकते हुए कहा—'उन्हे जाकर कहो कि मेरी स्वामिनी जल-विहार करने जाएगी, यदि आप जल-विहार का आनन्द लेना चाहते हैं तो ससम्मान चल सकते है।'

तिलोत्तमा ने जाकर तुरन्त लौटकर कहा—'उन्हे स्वीकार है!'

रथ मे आगन्तुक व्यापारी के पार्श्व मे वासवदत्ता बैठी थी।

यह प्रवासी भी कोई लक्षाधीश ही था।

आभूषणों से युक्त ग्रीवा और भुजा तथा हीरकजड़ित ध्रुव तारे की सदृश प्रकाशमान मुद्राएं।

नगर प्रवेश करते समय जब मित्र-मण्डल में प्रवासी के समक्ष आमोद-प्रमोद का प्रश्न उठा तो सबने एक स्वर में वासवदत्ता के रूप-गुण की प्रशंसा की थी। रूप-गुण की प्रशंसा के साथ यह भी कहा गया था—'उस पर विजय पाना सहज कार्य नहीं।'

इस पर आगन्तुक व्यक्ति ने उस कामिनी पर मन-ही-मन विजय पाने की प्रतिज्ञा की थी।

पर वासवदत्ता ?

उसने तो अब निर्णय कर लिया था—जीवन का महान् समर्पण का अधिकारी राहुल के उपरान्त उपगुप्त ही हो सकता है, संन्यासी उपगुप्त।

वह उपगुप्त की अंकशायिनी बनना चाहती थी।

अन्तर के विशाल पट पर उपगुप्त की सलोनी छवि चित्रित हो चुकी थी।

भिक्षु ने उसके जीवन मे एक प्रश्न उठा दिया था। वह प्रश्न भिक्षु के दिव्यानन की भांति दिव्य था, दुर्जय था। सन्यासी को स्मरण करती-करती सुन्दरी अस्फुट बडबड़ा उठती थी। प्रतारिका-सी अवसाद के हिचकोले खा रही थी—रथ में।

आगन्तुक व्यापारी उसके चिन्तातुर मुख को देखते-देखते ऊब गया था।

रथ अब भी द्रुतगति से चल रहा था।

वृषभों के ग्रीवाओं मे बंधी घंटियां अब भी मधुर ध्वनि कर रही थी।

एकाएक सामने अत्यन्त सज्जित अन्य रथ आता हुआ दृष्टिगोचर हुआ। रथ वासवदत्ता का परिचित था तो भी वासवदत्ता ने उस रथ की कृत्रिम उपेक्षा कर दी।'

अन्य रथ जब अत्यन्त निकट आ गया तो आज्ञाभरी वाणी सुनायी पडी—'रथ रोको।'

वाणी मनु की थी।

प्रवासी के सारथी ने रथ रोक दिया।

प्रवासी इस अभद्रता को सह नहीं सका। गरज पडा—'रथ हांको, यह कोई नगरपति की आज्ञा नही है।'

'हा, हा ! रथ हांको !'—वासवदत्ता ने भी कहा।

'छलनामयी ! जीवन के अन्त को जानती हो?'

'भलीभांति, जीवन का अन्त है मृत्यु, केवल मृत्यु !'

'कौन-सी मृत्यु ?' ''''दानव की या मानव की?'

'कैसी भी हो, पर जीवन का अन्त मृत्यु है, इतना मैं जानती हू।'

मनु गम्भीर उत्तर सुनकर चुप हो गया।

सारथी ने वासवदत्ता की आज्ञा सुनकर रथ हांकना चाहा कि मनु बोला—'इस ससार में लहरों का कोई अस्तित्व नहीं, तुम भी तो एक लहर की भांति हो, भला तुम्हारा क्या अस्तित्व हो सकता है?'

'लहरें कूल के प्रस्तर को काट-काटकर अस्तित्वहीन कर देती है।'

'लेकिन उस अस्तित्व के चिह्न अमिट होते है।'

'आमूल-चूल परिवर्तन चिह्नों तक को मिटा देते है, तब कूल के स्थान पर केवल लोल लहरें नर्तन करती दिखायी देती है।'

मनु जल उठा।

वह कुछ बोलने के लिए उद्यत हुआ ही था कि वासवदत्ता का रथ आगे बढ गया। प्रवासी व्यापारी इस नाटक को नहीं समझ सका। वासवदत्ता के रौद्र रूप को देखकर वह नितान्त निरुत्तर रहा और उसने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि यह सुन्दरी असाधारण है।

अब रथ सरिता-कूल पर था।

वासवदत्ता को प्रवासी व्यापारी ने कर सम्बल देकर रथ से उतारा।

हंस पीठिका तरणी लोल लहरों पर मन्थर गति से लास कर रही थी। नाविक डाड से रहे थे। प्रवासी व्यापारी अपना समस्त व्यक्तित्व विस्मृत करके अबोध शिशु-सा बैठा था—वासवदत्ता के सम्मुख।

कभी-कभी वह दृष्टि से वासवदत्ता को घूरता भी था।

तरणी सरिता के मध्य मे थी।

वासवदत्ता वीणा के तारों को अपनी मृदुल अंगुलियों से झंकृत करती-करती जब रुक गयी तब प्रवासी की प्रसन्नता नयनों मे दीप्त होती-होती रुक गयी।

एकान्त, निस्तब्धता, नारी तन की मादक सुगन्ध, हल्का-हल्का स्पर्श।

उसने विनीत होकर कहा—'देवी ! निस्पन्द क्षण व्यतीत नहीं किए जाते ।'

वीणा विनिन्दित कंठ भगिमा से उत्तर दिया वासवदत्ता ने—'सच !' मैं भी सोच रही हू कि कुछ करू ।···क्यों श्रेष्ठिवर ! यदि संगीत के मधुर स्वरों से इस वातावरण मे उस प्रमाद और उन्माद का समावेश कर दूं जो समस्त चिन्ताओं का हरण कर सकता है तो उसमे आपको कोई आपत्ति है ?' प्रश्न सुन्दर था ।

'नही तो, मैं भी तो इसीलिए आया हूं देवी ! संगीत सकटमोचन कहलाता है । मन के सन्तोप को हरण करने की शक्ति उसमें रहनी ही है । इसे मैं और तुम भलीभांति जानते हैं ।···अब तुम वीणावादन करो ।··· वातावरण भी हमारा साथ दे रहा है ।'

वासवदत्ता वीणा के तारो पर अपनी अगुलिया धावित करने लगी ।

निशी-क्षणो मे सगीत की कोमल कान्त स्वर-लहरी अनन्त को ध्वनित करने लगी और प्रवासी विस्मय मुग्ध-सा उसे निहारता रहा ।

पर आज स्वर सदैव की अपेक्षा परिवर्तित था ।

प्रवासी ने वीणा के निर्जीव तारों मे ऐसी मर्मांतक वेदना सजीव रूप मे नही सुनी थी । वह आत्म-विभोर-सा उसे देखता रहा, सगीत का रसास्वादन करता रहा ।

तरणि अब भी मन्थर गति से चल रही थी ।

वीणा की गति का संचालन बढ़ता ही गया, बढता ही गया ।

प्रवासी का आनन्द भी उसी प्रकार बढता गया ।

'झन···!'—के साथ वीणा के तार टूट गए ।

ऐसा विदित हुआ प्रवासी को जैसे सुख स्वप्न पर अप्रत्याशित आघात लगा हो । उसके चेहरे पर भय की रेखाएं दौड़ गयी—'अब क्या होगा ?'

प्रवासी को इतना व्याकुल देखकर वासवदत्ता विहंस पडी—'होगा क्या अब ?'

'तार जो टूट गए है ?'—प्रवासी का हाथ टूटे हुए तारों की ओर था ।

'पुनः बना लिए जाएगे ।'

'सुन्दरी ! ऐसी मधुर वीणा मैंने आज तक नही सुनी ।······ऐसी

निपुणता तुमने कैसे और किसके द्वारा पायी, बताओगी मुझे ?'

'वह बड़ा ही अन्यायी और निष्ठुर है।'

'निष्ठुर की ऐसी मृदुल देन ! आश्चर्य है सुन्दरी !'

'केवल निष्ठुर नहीं, पापी भी है, दस्यु भी है, भला भी है।'

'ऐसा विचित्र कौन है ?'

'पेट !'

'पेट !'—प्रवासी के नेत्र विस्फारित हो गए। विस्मय हठात् नयनो में बोल उठा।

'यह पेट न होता तो मैं वीणा की निपुण वादिनी वारगना नही होती।···सच कहूं तो यह पेट नही होता तो सृष्टि में कोई समस्या ही नही होती। यह लघु पेट कितने भयानक अपराध कराता है, अनुमान लगाना दूभर है।'

तरणि अब भी चपल-चचल वीचियो पर किलोलें कर रही थी।

इसी प्रकार की वार्त्तालाप मे दोनों निमग्न थे।

वासवदत्ता की दृष्टि प्रवासी की उस मुद्रा पर पडी, जिस पर स्वर्णकार की कला बोलती थी। मुद्रा को लालसाभरी दृष्टि से देखनी हुई वह प्रवासी के सन्निकट आयी। उसका हाथ उसने अपने कर मे लिया—'श्रेष्ठिवर ! यह मुद्रा आपने कब बनायी ?'

प्रवासी उसकी मतमा को भांप गया—'क्यो, तुम्हे पसन्द है ?'

'जी नही, किन्तु इसकी निर्माण कला वास्तव मे अद्भुत है ?'

'हमारे नगर के नितांत निपुण-निर्वाचित स्वर्णकार का यह कौशल है।'

'ओह !'—वासवदत्ता आश्वस्त होती हुई बोली—'तभी यह मुद्रा प्रत्येक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेती है ?···इसके निर्माण का क्या अर्थ दिया ?'

'अर्थ ! सुन्दरी वह स्वर्णकार तो मेरा मित्र है।'

'वह आपका मित्र है, तभी तो उसने इतनी उत्कृष्ट वस्तु का निर्माण किया है।'

'मुझे तो पूर्ण विश्वास हो गया है कि यह मुद्रा तुम्हे पसन्द है।'

'नही·····नही।'

'मिथ्या बोलती हो ?'

'पसन्द हो भी तो क्या ? आप अपने मित्र की भेंट मुझे थोड़े ही दे देंगे ?'—वासवदत्ता ने उसकी भावना पर प्रहार किया।

'मैं ऐसी एक नही, दस बनवा सकता हूं, यदि तुम्हें पसन्द हो तो ले लो।'—वह मुद्रा अगुली से उतारने के लिए तत्पर हुआ।

'इस तुच्छ पर इतनी कृपा···?'

'इसमे कृपा की क्या बात ? लो, इस मुद्रा को पहन लो। यह तुम्हें अत्यन्त भली लगेगी, लो पहनो न ?'—कहकर प्रवासी ने वासवदत्ता के कर में मुद्रा पहना दी।

मुद्रा पहनकर एक पल के लिए सुन्दरी ने अपनी अंगुली को मोहदृष्टि से निहारा।

प्रवासी उसे मुग्ध-सा देखता रहा कि कूल के समीप के अरण्य में गगन-भेदी गर्जना हुई—वनराज की। प्रवासी और वासवदत्ता दोनों काप उठे।

तरणि तुरन्त कूल की ओर अग्रसर हुई। दोनों भयभीत थे, शंकित थे।

कपाने वाली गर्जना पुनः हुई। तरणि कूल पर पहुंच गयी।

वासवदत्ता ने उस ओर ध्यान से दृष्टिपात किया।

धुंधले प्रकाश मे उसने देखा और देखकर चिघाड़ उठी—'भिक्षु ! भिक्षु ! ! बचो सिंह ! सिंह ! !'

वासवदत्ता बेसुध-सी भिक्षु की ओर लपकी। देखा—आक्रमणकारी सिंह धराशायी हो गया है। उसके एक अत्यन्त घातक बाण लगा है।

लेकिन भिक्षु उपगुप्त का चेहरा निर्द्वन्द्व था। भावशून्य था। लपककर वे सिंह के समीप गए और उसे थपथपाकर धैर्य दिया। धैर्य देकर बाण को निकाला। प्रहार इतना घातक नही था जितना समझा गया था। तो भी रक्त प्रवाहित होने लग गया था।

भिक्षु ने तुरन्त अपना काषाय वस्त्र चीर करके सिंह के प्रहार पर बाधा। सिंह उठकर पालतू पशु की भाति वन की ओर चला गया।

वासवदत्ता तुरन्त भिक्षु के समीप पहुची। आकुलता से बोली—'यह आपने क्या किया ? कही हिंस्र पशु आपका भक्षण कर लेता तो ?'

तभी आखेटी भी आ गया था। आखेटी के नयनों में रोष था। वह

घायल भी था। सिंह को न पाकर वह खड़ा रहा।

भिक्षु का स्वर शान्त था, मुद्रा भी शान्त थी—'भद्रे ! भगवान बुद्ध की कृपा प्राप्त करने के पश्चात् प्राणी को मृत्यु का भय नही रहता क्योंकि मृत्यु का पल निश्चित है।'''इस पर प्रत्येक जीवमात्र की रक्षा करना हमारा धर्म है।'

'सांप को दुग्धपान कराने से क्या वह अपने स्वभाव का त्याग कर देगा?'—वासवदत्ता ने पूछा।

'क्यों नही; मनुष्य मे आत्मबल होना चाहिए फिर वह जैसा चाहे, वैसा कर सकता है। भगवान शिव सर्पो के संग रहते हैं न !'

'लेकिन जान-बूझकर के प्राणों का होम करना भी तो साधुता नही है।'

'साधुता के लक्षण और उनकी साधनाजनित प्रवृत्तियो को तुम क्या जानो? कनक की चमक में लीन प्राणी को मन की सच्चाई का ज्ञान कम रहता है। विश्व के प्रांगण मे अहिंसा और दया ही ऐसी वस्तुए है, जिससे मनुष्यमात्र का कल्याण सम्भव है। आखेटी व्याघ्र पर प्रहार नही करता तो क्या व्याघ्र उस पर झपटता? नही, कदापि नही। आखेटी ने उसका प्राण लेना चाहा, तो उसने उसके प्राण लेने का प्रयास किया। ज्ञानी हिंसा नही करता वह हिंसा का विनियम भी अहिंसा से करता है। इसलिए प्राणीमात्र को दया करना चाहिए ताकि वह निर्वाण पद प्राप्त करके जन्म-जन्मान्तर से मुक्त हो।'—कहते-कहते भिक्षु के नेत्र बन्द हो गए।

आखेटी ने बढ़कर भिक्षु के चरण-स्पर्श कर लिए। भिक्षु ने उसे आशीर्वाद दिया—'कल्याण हो। हिंसा को त्यागो। दया करो।'

'मैं भविष्य मे कभी भी हिंसा नही करूगा। मैं जान गया हू कि जीवन में यदि सर्वश्रेष्ठ वस्तु है तो दया और अहिंसा।'—आखेटी ने भिक्षु की पग-धूली को मस्तक पर लगाया और वन के पूर्वाञ्चल की ओर चला गया।

भिक्षु ने नितान्त संयत स्वर में कहा—'तुमने उसे मारना चाहा तो उसने तुम्हे मारने की चेष्टा की। मैंने उस पर दया की तो उसने मुझ पर दया की !'

वासवदत्ता ने उसकी प्रतिज्ञा को स्मरण दिलाते हुए कहा—'भिक्षु ! आपको अपनी प्रतिज्ञा स्मरण होगी? आपने कहा था—मैं एक वर्ष बाद'

आऊगा,'''देखो ! वर्ष व्यतीत होने के संग-संग आज कितना स्वस्थ वातावरण है ?'—वासवदत्ता अपनी अत्युत्तम मुद्रा मे खड़ी हो गयी।

भिक्षु ने मन-ही-मन स्मरण किया :

दुन्निग्गहस्स लहुनो यत्य कामिनी पातिनो
चितस्य दम थो साधु चित्त दन्तं सुपावह*

भिक्षु ने नेत्र मूद करके तथागत के दर्शन किए। मन को परम शान्ति मिल गयी। कहा—'वातावरण अपनी नियत परिधि मे प्रत्यावर्त्तन करता रहता है। इसके लिए सुख-दु ख करना व्यर्थ है।'

'नही भिक्षु ! जो क्षण व्यतीत होता जाता है, वह पुनः नही लौटता ! और ये क्षण कितने सुन्दर हैं !'

'क्षण इससे भी सुन्दर आ सकते हैं ?'

'लेकिन आपने जो प्रतिज्ञा की थी ?'

'उस प्रतिज्ञा मे अभी एक पक्ष की अबेर है।'

'तो तुम्हे कल मेरे घर पर पुनः आतिथ्य स्वीकार करना पडेगा ?

'अवश्य।'

'कब ?'

'वही प्रभात-वेला।'

'सच ?'

'''''।'—इसका उत्तर दिए बिना ही उपगुप्त चला गया।

रह गयी थी एकाकी वासवदत्ता। उसका नूतन अतिथि प्रवासी।

प्रवासी इतने काल तक कुछ नही समझा। देखता रहा वासवदत्ता और भिक्षु को। उसने उन दोनो की वार्ता को समझने का प्रयास भी किया था, पर समझने मे वह असमर्थ-सा रहा।

वासवदत्ता उससे रुष्ट न हो जाए, यही विचार करके प्रवासी ने शंकित स्वर मे पूछा—'यह भिक्षु कौन था ?'

---

* (जो) कठिनाई से निग्रह योग्य, शीघ्रगामी, जहां चाहता है, वहा चलने वाला है। (ऐसे) चित्त का दमन करना उत्तम है; दमन किया चित्त सुखप्रद होता है।

'•••।' वासवदत्ता मौन रही।

'सुन्दरी ! यह साधारण भिक्षु कौन था, जिसके समक्ष तुम प्रणय-चर्चा कर रही थी ?'

'वह साधारण भिक्षु था ?•••किस रूप मे ?' रूप-गुण-बुद्धि का तो लक्षाधीश है।•••श्रेष्ठिवर ! यह आचार्य उपगुप्त है, जो मृत्यु जैसी भयानक वस्तु से भी भय नही खाते।'—वासवदत्ता की आंखें चमक गयी।

'सुन्दरी ! तुम बडी विचित्र हो, सन्यासियो-साधुओ के लिए तुम्हारे हृदय मे अपनत्व है, ऐसा क्यो ?'

वासवदत्ता मौन रही। प्रवासी श्रेष्ठिवर प्रसग बदलने के हेतु बोला—'सुन्दरी ! एक अनुपम नृत्य दिखा दो। पारितोषिक पूर्व प्रदान कर देता हू। •••लो यह पुखराज।' —कहकर प्रवासी ने पुखराज उसे भेंट कर दिया।

वासवदत्ता ने एक क्षण तक उस पुखराज को देखा फिर उसे सरिता के अयाह जल मे फेंक दिया।

प्रवासी रोकता-रोकता रह गया। जो वह कहना चाहता था वह कह न सका। वह कहना चाहता था—'यह तुमने क्या किया सुन्दरी ?'

और सुन्दरी ?

वह तो खिलखिलाकर हस रही थी, हसती जा रही थी।

हंसते-हसते उसके नयनो मे जल भर आया था।

२०

आज तिमिराच्छन्न रात्रि वेला मे उपगुप्त का चित्त उद्विग्न-पर-उद्विग्न होता जा रहा था।

उसके मस्तिष्क में भाति-भाति की शकाएं धूम्र सदृश उठ-उठकर लुप्त हो रही थी।

क्योकि सघो मे नारी प्रवेश मान्य था। भिक्षुणिया तथागत के चरणो

मे अपना जीवन-यौवन समर्पण करती जा रही थी। लेकिन आज वह इस समस्या पर गंभीरता से विश्लेषण करना चाहता था।

उन्होने मन-ही-मन सोचा—'सघ मे नारी प्रवेश धर्मोत्थान के लिए श्रेयस्कर नही हो सकता।'

उनके अपने मन ने कहा—'यह महाप्रभु ने श्री आनन्द के अनुरोध पर औचित्य नही किया क्योंकि जो नारी किसी भिक्षु पर आसक्त होकर, उसे अप्राप्य समझकर, प्रवज्या लेगी और संघ मे प्रविष्ट करेगी, वह अवश्य ही भ्रष्टाचार का विस्तार करेगी।'

इन्ही विचारों मे उलझे आचार्य उपगुप्त स्थिर होकर बैठ गए। उनका हृदय पीडित था।

निशीथ के निविड़ क्षण।

क्षणों की मन्थर गति।

विचारो का सघर्ष और सघर्ष से जो मन्थन होकर नवनीत निकल रहा था, उसी नवनीत को आचार्य उपगुप्त बडी सावधानी से एकत्रित कर रहे थे। उन्होने निर्णय किया कि वह धर्म सघ मे जाकर महास्थिवर से प्रार्थना करेगा कि सघ में नारी प्रवेश की एक कठोर मर्यादा वना दी जाए अन्यथा के गर्भ में निहित भयानक दावानल महाप्राण के महामन्त्र का विनाश कर देगा। संघो में ये तथाकथित भिक्षुणियां शील और संयम के स्थान पर अनाचार और व्यभिचार का विस्तार करेंगी।

तब विरोधी धर्मावलम्बियो से सघर्ष होगा।

महाप्रभु के त्रिरत्नो पर से लोगो का विश्वास उठ जाएगा।

धर्म मे महान् परिवर्तन की आशका उठ जाएगी।

लोगो को सादगी के स्थान पर वैभव, त्याग के स्थान पर मोह, धर्म के स्थान पर पाप दृष्टिगोचर होगा।

तब महान् क्रान्ति का आह्वान होगा।

क्रान्ति के साथ नवीन धर्मचक्र का प्रवर्तन होगा।

भिक्षु उपगुप्त भावावेश के कारण शिथिल हो गए।

उनके सूर्यमुख पर परिताप भरे श्वेदकण उभर आए। भविष्य के गर्भ मे क्या निहित है, उसका धुंधला आभास धुंध-सा उसके नेत्रो के सम्मुख

नर्तन करने लगे।

अभिशप्त उपगुप्त नेत्रोन्मिलन करके धरती पर सो गए। उन्हे जागृत स्वप्न आने लगे।

अविकसित कमलिनी की सदृश उसकी बन्द पलकें वासवदत्ता के चतुर्दिक चक्कर निकालने लगी—'चम्पे-सा मुग्ध यौवन, अधरों पर तांबुल की रक्ताभ। बिन्दी शोभित भाल पर उत्तेजना और आवेश के झलके हुए श्वेदकण। गर्वित सौन्दर्य। वासना की साक्षात प्रतिमा!

रूप की ज्वलित शिखा!

चौंककर उठ गया आचार्य गुप्त। अपने चारों ओर दृष्टिपात किया—घोर अन्धकार के सिवाय कुछ भी दृष्टिपात नही हो रहा है।

उन्हे भान होने लगा कि वासवदत्ता वासना व इन्द्रियो का दमन किए विना भिक्षुणी वन गयी है और एक नवदीक्षित भिक्षु पर आसक्त हो गयी है। भिक्षु अपने पथ पर अडिग हैं। धीरे-धीरे वासवदत्ता उसे पतनोन्मुख करती रहती है।

अन्त में सदैव का समीप्य उस भिक्षु को चचल बना देता है।

दमन किए मन के विकार उच्छृंखल होने लगते है।

उपगुप्त को उस भिक्षु पर क्षोभ आने लगता है। वह उसे चेतावनी देता है—'श्रमण! श्रमण!! रुको, भावनाओ में इतना न बहो कि तुम्हारी निर्वाण की साधना भंग हो जाए ··नारी साधु की महान् दुर्बलता है। उस दुर्बलता पर अधिकार करो वर्ना तुम्हारे निर्वाणप्राप्ति के अष्टाग साधन भग हो जाएगे।···तुम्हें तो सद्ज्ञान, सद्सकल्प, सद्वाणी, सद्कर्म, सद्जीविका, सद्चित्तावस्था की ओर प्रवृत्त होना चाहिए और तुम्हारा मन तो एक अभिनव अभिशाप की ओर उन्मुख हो रहा है। सभलो, श्रमण सभलो।'

'पर वह भिक्षु उससे लुक-छुप करके अभिसार करता रहता है।'

'अभिसार अन्त मे पतन वन जाता है।'

'तव···?'

'नही!'—आचार्य उपगुप्त गरज पड़े—'मैं महास्थिवर से प्रार्थना करुगा ही।'

उपगुप्त के नेत्र इस बार ऐसे खुले जैसे एक नहीं सहस्र उल्काओं का प्रकाश उनमें जगमगा उठा।

जैसे भगवान बुद्ध की कृपा ने इस भक्त को इस पापावृत से मुक्त होने का सम्बल दे दिया है।

वह उठे।

निविड़-शून्यता में चहल-पहल करने लगे।

शून्यता में पद-चाप स्पष्ट सुनायी पड़ रही थी।

विचारों का संघर्ष अब भी उनके मस्तिष्क में चल रहा था। अन्त में उन्होंने निर्णय किया—'मैं वासवदत्ता के यहां अवश्य ही जाऊंगा। महाप्राण अमिताभ का सच्चा भक्त हूं, अशैक्ष हूं तो अपने आत्मबल से उस प्रवचनामयी छलना के वासना भरे हृदय में विरक्ति की भावना को उत्पन्न करूंगा, उसके विलासी हृदय को विभुता-विमुख करूंगा?'

इतना विचारते-विचारते उपगुप्त जड़वत् हो गए।

निर्णय भयंकर था, तो उसकी सफलता प्राप्त होनी भी उतनी ही भयंकर थी।

अनुरक्ति और विरक्ति की स्पर्धा थी।

कौन विजयी होगा, कोई नहीं जानता था?

दोनों महाबली थे।

एक थी सुन्दरी—

और एक था सन्यासी।

उपगुप्त चलने को उद्यत हुए।

उन्होंने सर्वप्रथम उस गहरी शून्यता में महाप्राण की महाभ्यर्थना की।

धीरे-धीरे डग उठाते लता-कुञ्ज की ओर बढ़े।

हौले-हौले सुनायी पड़ रहा था—

बुद्धं सरणं गच्छामि
धम्मं सरणं गच्छामि
संघं सरणं गच्छामि

भिक्षु घने वन की शून्यता में अलोप हो गया।

२१

हेमन्त-प्रभात मे चचल गात्री वासवदत्ता नववधू-सी अलिन्द में आत्म-विभोर हुई खड़ी थी।

आज उसने निर्णय कर लिया था कि सन्यासी लाख भी मना करे, पर वह नर्तन करेगी।

नृत्य !

ऐसा नृत्य जो अपनी अद्भुत कला द्वारा आचार्य उपगुप्त के हृदय मे जब मोह का प्रादुर्भाव करेगा तब मैं उस नृत्य को अपने जीवन का सफल नृत्य मानूगी।

केवल सफल ही नही, यह नृत्य मेरे जीवन का अन्तिम सार्वजनिक नृत्य होगा।

वासवदत्ता के विचार और गम्भीर हो गए—'राग और विराग के सताप पर संयम का शिला-खण्ड भग्न करके मैं राग का ज्वार उत्पन्न करना चाहती हूं। इस विलास और उल्लास के असीमित सागर मे सन्यासी को डुवाना चाहती हू।'

'और यदि मैं···?'

'हा, यदि मैं पराजित हो गयी तो इन समस्त कला-निधियों को अगस्त्य मुनि की भाति पान कर डालूगी। तत्पश्चात् इस हृदय मे उस निर्लेप की उपासना का प्रदीप प्रज्जवलित करूंगी जो मेरी पराजय की पवित्र प्रतिक्रिया होगी।'

इस प्रकार वह दृढ निश्चय करके शृगार-कक्ष मे आयी और वहां के समस्त दर्पणों में अपने को दर्प से देखा। स्वर्ण-आभूषणों से सज्जित वह ऐसी लग रही थी जैसे स्वर्ण-पात्रो के मध्य झिलमिलाती दीप-शिखा।

आज भवन की स्वच्छता भी विशेष रूप से करायी गयी थी।

तोरणद्वार, गर्भद्वार, अलिन्द, प्रकोष्ठ, गवाक्ष सज्जा की पराकाष्ठा को पहुंच गए थे।

चम्पक, कमल, जूही के पुष्पो से भवन महक रहा था।

दण्डपाशुल प्रहरी और परिचारिकाए नूतन वस्त्र धारण किए अपने-

अपने कार्य मे तत्पर दीख रहे थे। उनके आननों पर ऊषा की भाति सुखद उन्मेष छाया हुआ था।

दण्डपाशुल ने शीघ्रता से आकर सवाद सुनाया—'आचार्य उपगुप्त पधार रहे हैं?'

वासवदत्ता चचल हो उठी।

भिक्षु के स्वागत हेतु वह कुछ देर अपनी चेतना को विस्मृत करके यत्र-तत्र धावित होने लगी।

जब भिक्षु ने तोरणद्वार पर अपना चरण रखा तब वासवदत्ता के युग्म कर भिक्षु के चरणों पर थे।

भिक्षु ने आशीर्वाद दिया—'कल्याण हो?'

भिक्षु का महास्वागत हुआ।

प्रसाद ग्रहण करने के उपरान्त केलि-भवन में भिक्षु के लिए चन्दन की वेदी रखी हुई थी, फिर भी आसन ग्रहण किया भिक्षु ने पत्थर पर ही।

वासवदत्ता ने अपनी परिचारिकाओं को सम्बोधित करते हुए कहा—'एकान्त!'

सब परिचारिकाए चली गयी।

भवन मे शान्ति छा गयी।

भिक्षु ने प्रश्नभरी दृष्टि से वासवदत्ता को देखा।

वासवदत्ता मुस्करा पड़ी।

भिक्षु आश्वस्त होता हुआ बोला—'भद्रे! तुम्हारी साधना की भावना पवित्र नही है। जैसी भावना वैसा फल।'

'मेरी जैसी भावना होगी, क्या मुझे वैसा ही फल मिलेगा?'

'क्यो नही, यह चिरन्तन सत्य है?'

'मेरी भावना किसी को प्राप्त करने की हो तो?'

'वह भी तुम्हे मिलेगा?'

'सच?'

'हां?'

'तो मैं तुम्हे प्राप्त करना चाहती हूं।'—वासवदत्ता ने तुरन्त कहा।

'क्यों नही, साध्य को यदि तुम्हारी साधना पसन्द आयी तो?'

'क्या मेरी साधना तुम्हें पसन्द नही है ?'

'…।' भिक्षु ने 'न' के सकेत मे सिर हिलाया।

'क्यों ?'—आघात लगा हो वासवदत्ता को। वह चौंक पडी।

'क्योकि मैं नारी में उत्थान और पतन दोनों पाता हू। यदि वह शील, सयम और मदाचार से चले तो जगत-कल्याण कर सकती है।'—कथन गम्भीर था।

'आप तो मुझे सदैव वात्याचक्र मे उलझाने की चेष्टा करते है और मैं स्पष्ट शब्दो मे कहती हू कि मैं बिना प्रेम किसी भी साधना, उपासना, आराधना को सफल नही मानती। भिक्षु ! मुझे प्रेम चाहिए, प्रेम !'

'मैं तुम्हे प्रेम दूगा।'

'तुम मुझे प्रेम दोगे ?'—रोम-रोम बोल उठा वासवदत्ता का।

'हा, मैं तुम्हे प्रेम दूगा, निश्चय प्रेम दूगा।'

'तो लो यह आंचल विस्तृत है।'

'प्रेम के लिए यह स्थान उचित नही।'

'भिक्षु !'—कहकर वासवदत्ता उसके सन्निकट आ गयी।

'तुम मुझे प्रेम प्रदान करोगे ?'—वासवदत्ता के सयम का बांध टूट गया। वह अनर्गल प्रलाप करने लगी—'भिक्षु ! मुझे कुछ नही चाहिए, केवल तुम्हारा प्रेम चाहिए। तुम्हारे प्रेम-प्रसून का प्रसाद जब इस तुच्छ को प्राप्त हो जाएगा तब वह तुम पर अपना सर्वस्व विसर्जन कर देगी… प्राण भी।'

'मैंने कहा न, कि प्रेम प्राप्त करने का यथेष्ठ स्थान भी तो होना चाहिए। वह तुम्हारे पास कहा है ?'

'कैसे नही है !'—रूप-माधुरी चौक पडी—'वह स्थान है मेरा यह हृदय।'

'और हृदय मे प्रेम है ही नही, वहा है वासना ? विपुल वासना ! पतनोन्मुखी तृष्णाए।'

'भिक्षु !'—वासवदत्ता ने रोषभरी दृष्टि से भिक्षु की ओर निहारा।

'जा रहा हू देवी।'—भिक्षु खड़ा हो गया।

उसे रोकते हुए वासवदत्ता करुणा से बोली—'क्षमा कर दो भिक्षु !

मैंने दभ मे प्रेम की महत्ता को विस्मृत कर दिया था, इतने दिन तक समस्या को ही जीवन की सफलता, अमोघ शस्त्र मानती रही। लेकिन वह मिट्टी के पर्वत की भांति खडित हो रहा है। अब मैं प्रेम चाहती हू। केवल एक व्यक्ति की प्रेम-पात्र बनकर शेष जीवनयापन करना है मुझे।'—वह अवश-सी भिक्षु से सटकर खडी हो गयी।

भिक्षु ने शान्त भाव से कहा—'प्रेमी बनने के पूर्व त्यागी बनना सीखो। देवी ! प्यार रोप भी नही करता और वासना अपराध करा देती है। जब तक तुम त्याग करना न सीख जाओगी तब तक तुम सफल प्रेमी नहीं बन सकती।'

'मैं सर्वस्व त्यागने को तत्पर हू।'

'शीघ्रता भी वासना का एक भाव है। त्याग की उत्पत्ति चिन्तन से होती है देवी।···और यौवनमत्त प्राणी चिन्तन को किंचित महत्त्व देता है।'

'यह तुम कैसे कह सकते हो भिक्षु ?'

आचार्य उपगुप्त जडवत् रहे।

उनके अधर किसी की अभ्यर्थना में निमग्न थे।

पाप के इस घोर सघर्पण-विघर्षण मे अपने आपको अस्पृश्य रखने हेतु।

भिक्षु के नेत्र बन्द थे।

अधर फडक रहे थे।

तन शून्य था।

मन समाधिस्थ-सा था।

भिक्षु ने नेत्र खोल दिए।

वासवदत्ता प्रसन्नता से विहस पडी—'भिक्षु मेरी इतनी उपेक्षा क्यों कर रहे हो ?'

'मैं प्रत्येक प्राणी को प्यार करता हू, तुम्हे भी।'

'यह तुम कहते अवश्य हो, लेकिन करते नही ?'

'मैं प्रेम करता हू।···वासवदत्ता ! तुम प्रणय की महानता से अपरिचित हो। प्रणय का सच्चा रूप-इन्द्रियों के दमन के पश्चात् ही विदित

होता है। मैं स्वयं मथुरा का श्रेष्ठिपुत्र रहा हूं। वैभव की निरर्थकता को त्यागकर ही मैं मोक्ष-पथ पर आया हू।'

फिर तथागत के उपदेश उनके मन-मन्दिर में गूज उठे—'तरुण युवती भगिनी सदृश होती है। उसे प्रत्येक श्रमण को उसी दृष्टि से देखना चाहिए। यदि वह मन मे तनिक भी कलुषित विचार लाता है तो वह अपराधी है।'

तव अनात्मावादी ने मन-ही-मन पढा—'परित्राण-धर्मदेशना।'

और जैसे उनकी चेतना लौट आयी हो, वैसे सजग होकर वे वासवदत्ता को मर्मभेदी दृष्टि से निहारने लगा। अब उसके दिव्य चक्षुओ को वासवदत्ता के उत्तेजित रूप में सात्विक रूप के दर्शन हुए।

वे मन-ही-मन कह उठे—'यह तो मेरी भगिनी है, भोली-भाली···।' सोचते-सोचते भिक्षु ने अपना आशीर्वाद देने के लिए अपना हाथ उसके सिर पर रख दिया।

इस बार वासवदत्ता भी विस्मयविमूढ हो गयी।

वासना के उद्दाम के कारण पतन के भवर मे थपेडे खाता हुआ सुन्दरी का मन पलभर के लिए स्पन्दनहीन हो गया।

और संन्यासी सोच रहा था कि इस पथ विस्मृता को परमार्थ के पथ पर कैसे लाऊं ?

भिक्षुक ने कहा—'महाप्रभु तथागत का ध्यान करो। वे तुम्हे सच्चा प्रेम देंगे।'

'···।'—वासवदत्ता मौन रही। उसने देखा कि भिक्षु के तारुण्य-सम्पन्न आनन पर वृद्ध का भोलापन क्रीड़ा कर रहा है।···मै उसके समक्ष एक नन्ही शिशु-सी लगती हूं, नितान्त छोटी।

'अच्छा, अब मैं चलता हूं।' भिक्षु चलने को उद्यत हुआ।

'और मेरी प्रेम पिपासा ?'

'पूर्ण होगी।'

'कब?'

'समय पर।'

'वह समय कब आएगा ?'

आचार्य उपगुप्त कुछ क्षण समाधिस्थ रहे जैसे वे किसी भावी बात का पता लगा रहे हों, फिर किंचित उदास स्वर में बोले—'एक पक्ष के पश्चात् ।'

वे विरल उच्चारित करते हुए चल पड़े ।

२२

प्रात समीरण के शीतल झोंके वातायन से आ-जा रहे थे ।

गृहलक्ष्मी के शयनकक्ष के दर्पण के सम्मुख खड़ी देविका अपने कुन्तल को सवार रही थी । सवारते-सवारते वह सोच रही थी—'गृह कलह से गृह का नाश सभव है। स्वामी का बाले के नयन-जाल में उलझकर स्वामिनी की उपेक्षा और दुर्व्यवहार एक-न-एक दिन इस गृह की भव्य प्राचीरों को धराशायी कर देगा, तब यह गौरवशाली कुटुम्ब प्रताडना का जीवनयापन करेगा ।'

'बाले गृहलक्ष्मी की सेविका है लेकिन इन दिनों जो उसका व्यवहार-बर्ताव देखा जा रहा है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि बाले ही मनु की धर्म-पत्नी है, गृहलक्ष्मी तो एक दासी ?'

'...और बाले ! प्रतिशोध की आग मे जलकर कितनी कटु, घृणित और पापाणी हो गयी है ?'

देविका को आश्चर्य होता था और कभी-कभी वह सोचती भी थी कि क्या यही वह बाले है जिसे मनु ने क्रय किया था ?.जो करुण थी, जो शांत थी, जो भोली थी, जो दयनीय भी। लेकिन वह तो...?'

देविका सोचती जा रही थी। सोचती-सोचती वह बाहर चली गयी।

और बाले ?

विगत् दिनों मे उसने एक अभिशप्त जीवन ही व्यतीत किया था। मनु के सग उसका सम्बन्ध था जो था ही, उसने गुप्त रूप से एक दडपाशुल से भी अपना सम्बन्ध जोड़ लिया था । जब मनु उसके कक्ष मे नही आता था

तब वह दडपाशुल आता था। वह दंडपांशुल को हृदय से चाहती थी क्योंकि वह भी उसे अत्यन्त चाहता था।

एक दिन मनु ने उन दोनो की प्रेम-क्रीडा का अवलोकन कर लिया।

तब ?

एक भयकर समस्या उपस्थित हो गयी थी। ऐसे भयभीत क्षण बाले के जीवन मे नहीं आए थे। मृत्यु उसके चतुर्दिक चक्कर लगाने लगी थी। वह काप रही थी।

और मनु ?

उसकी आखें कह रही थी—'बाले ! तुम्हारा अन्त निश्चित है।'

तब मनु ने बाले को पदाघातो से अचेत कर दिया।

दडपांशुल के वक्ष पर लोहे की तपी सलाखे चिपका दी।

कितना करुण क्रन्दन कर रहा था वह दडपाशुल लेकिन मनु को तनिक भी करुणा नही आयी।

वह उसे पीटता गया, केवल पीटता गया।

बाले देखती रही। उसके नयनों से रक्त प्रवाहित हो रहा था।

जब मनु श्रान्त हो गया तो उसने दो अन्य दडपाशुलों को आज्ञा दी कि इसे इसी अवस्था मे घोर वन मे छोड आओ ताकि यह क्षुधा से आकुल मारा-मारा भटके और जलविहीन मीन की भाति अपने प्राणो का त्याग करे।

उस दिन से आज तक बाले और मनु के मध्य पुन: द्वन्द्व नही हुआ। दोनों अब प्रसन्न थे। बाले मनु को अपना तन देती थी और मनु उस तन के परिवर्तन में उसे अन्न दिया करता था।

धीरे-धीरे बाले मनु के मन की साम्राज्ञी बनने लगी। इसे गृहलक्ष्मी सह न सकी। दोनो मे सदैव संघर्ष होने लगा। बाले अपने मन की समस्त शिष्टता और सभ्यता का त्याग कर चुकी थी। वह तो स्पष्ट कहा करती थी कि मैं क्या करू ? मेरे स्वामी ने मुझे क्रय ही इसीलिए किया है कि मैं अपना सर्वस्व उनके चरणो मे भेंट करू ?

परिचारिकाओ पर वह अत्यन्त कुढती रहती थी। जो कोई उसकी तनिक भी उपेक्षा कर देती थी उसे वह पीट देती थी।

किंकरी की करुणा कृपण वन चुकी थी।

शील लुप्त हो गया था, सौहार्द्र समाप्त हो गया था।

अब एक ही आकाक्षा थी जिसे वह स्वयं नही जानती थी।

देविका ने आकर वाले से कहा—'स्वामी आपको अपने कक्ष मे बुला रहे हैं।'

'…।'—वाले अहम् से अकड़कर उस ओर चली।

मनु शय्या पर शायित अब भी जम्हाइया ले रहा था। उसके कुन्तल स्नेहहीन-शृगारहीन थे। वसन भी अस्त-व्यस्त थे।

वाले को देखते ही मन्द स्मित-रेखा उसके अधरो पर धावित हो गयी—'आओ वाले, आओ?'

'यह द्वन्द्व और कितने दिन चलेगा?'—वाले ने प्रणाम करके कहा।

'कौन-सा द्वन्द्व?'—जैसे मनु कुछ भी नही जानता है।

'गृहलक्ष्मी से! वह आपकी अनुपस्थिति मे मेरे सौन्दर्य और माधुर्य को कोसती रहती है, ऐसा क्यो?…मैं आपकी चरणधूली हूं और वह आपके मन-मन्दिर की मूर्ति लेकिन इसका तात्पर्य यह नही है कि मैं आपके चरण-स्पर्श से भी वचित रहूं?'

मनु ने तुरन्त पूछा—'वह तुम्हारे साथ ऐसा बर्ताव करती है?'

'प्रमाण भी दे सकती हू कि आपकी धर्मपत्नी कितनी नृशंस है?'—स्वर तीव्र था।

'नृशस?…क्या कहती हो वाले?'

'सच कहती हू, देखिए?'—कहकर वाले ने अपने आंचल को उतार करके कंचुकी को खोला तो उरोज पर एक नीला चिह्न लगा हुआ दिखायी पडा। इस नीले चिह्न को देखते ही मनु सिहर उठा। उसकी पलकें स्थिर हो गयी।

'यह क्या?'

'आपकी धर्मपत्नी का धर्मकार्य?'—मुख घुमा लिया बाले ने।

'वह इतनी निष्ठुर हो गयी है?'—खडा हो गया मनु।

'प्रमाण प्रत्यक्ष है, कथन की क्या आवश्यकता?'—स्वर शान्त था बाले का।

'तुम यही बैठो मैं आता हू ।'—कहकर मनु कक्ष से बाहर हो गया।

बाले पात्र मे पड़े दाड़िम के दानों को चबाने लग गयी थी। जैसे मनु के विचारों का इतना घोर आन्दोलन उसके लिए साधारण है।

वातायन से धूप की किरणें आने लग गयी थी। पवन स्तब्ध थी पर मन चलायमान था—'आज इस गर्विता का गर्व चूर करूगी। कल अशिष्टता से बोली थी, स्वर्ण-पात्र से मेरे उरोज पर प्रहार भी किया था। पर आज उन सब अपमानों का प्रतिशोध लूगी। · अवश्य लूंगी।'

आने की आहट पाकर वह सभली।

गृहलक्ष्मी के सग मनु ने प्रवेश किया। मनु का चेहरा तमतमाया हुआ था। श्वास की गति, हृदय मे कितना क्रोध है, यह बता रही थी?

कक्ष मे प्रवेश करते ही उसने बाले की ओर सकेत करके पूछा—'कल तुमने इसे पीटा?'

'नही?'—गृहलक्ष्मी ने कहा।

'मिथ्या भाषण! मैं तुम्हारे स्वभाव को ठीक कर दूगा।'—मनु गृहलक्ष्मी की ओर उन्मुख हो गया।

'आप तो ठीक करेंगे ही, एक क्रीतदासी के समक्ष मुझे अपमानित करते आपको तनिक भी सकोच नही आता।' गृहलक्ष्मी भडकी।

'नही आता, जाओ।'—दहाड से कक्ष ध्वनित-प्रतिध्वनित हो उठा।

'क्यो आए सकोच? जिन्होने अपनी आन को विस्मृत कर दिया है, वे देवता के मस्तक के पुष्प थोड़े ही बन सकते है, वे तो पगो से कुचल जाने वाले कीट ही बनेंगे।'—गृहलक्ष्मी भी आज शान्त नही हो रही थी। उसकी मुद्रा से स्पष्ट प्रतीत होता था कि आज उसने निश्चय कर लिया है कि जो उसे एक कहेगा, वह सुनेगा भी।

'मैं कहता हू कि तुम मौन हो जाओ?'

'नही होऊगी, जब तक आप इस क्षुद्र दासी को मेरी आंखो के आगे से नही हटाएगे तब तक यह वाणी बद नही होगी।'—गृहलक्ष्मी के नयनो मे अश्रु छलक आए।

'मुझ पर दोषारोपण करना व्यर्थ है। मैं तो कहती हूं कि मेरे स्वामी मुझे अभी ही मुक्त कर दें।'

एक दीर्घ श्वास लेकर मनु अग्नि-शिखा-सा भड़क उठा—'तुम्हे अपनी वाणी अवरुद्ध करनी ही होगी ?'

'नही करूंगी ?'—गृहलक्ष्मी ने आर्तनम् किया।

'नही करेंगी ?'—मनु गृहलक्ष्मी के सन्निकट था।

'हां-हां ! नही करूंगी ?'—क्रन्दन कर उठी गृहलक्ष्मी।

'मौन हो जाओ ?'—प्रहार के लिए मनु का हाथ उठा, लेकिन वे अपना काम नही कर सके। जहा थे वही पर रुक गए।

गृहलक्ष्मी काप रही थी।

अश्रु नयनो से पूर्ण वेग से प्रवाहित हो रहे थे।

बार-बार बोलने का प्रयास करती थी, लेकिन रोदन उसे बोलने नही देता था।

अन्त मे वह कम्पनभरी वाणी मे चीख पडी—'रुक क्यो गए, प्रहार करके मुझे इस संसार से ही विदा कर दो, तुम्हारा पथ प्रशस्त हो जाएगा, तुम्हारा जीवन मुदित हो जाएगा।…करो न प्रहार ?'

मनु झुझला उठा—'तुम सब मुझे विनष्ट करने को तत्पर हो !'

'ऐसा क्यों नही कहेगे ? अपने मान का ध्यान न धरकर एक क्रीत दासी से …।'

'श्रीमन्त ! मैं यहा नही ठहर सकती ?'—दामिनी धरती पर धराशायी होकर लुप्त होती है ठीक उसी प्रकार पलक झपकते बाले ने गर्जना की और कक्ष से बाहर हो गयी।

मनु तड़पकर रह गया।

यह एक जटिल समस्या थी जिसका समाधान मनु अपने प्रभुत्व से नहीं निकाल सका। रोष, आक्रोश और शक्ति समस्या का समाधान नही कर सकी।

पराजित हो गया मनु। उसका कारण था कि गृहलक्ष्मी के पिता जो एक श्रेष्ठ सामन्त थे, उन्होंने मनु को चेतावनी दे दी थी कि उनकी बेटी के साथ दुर्व्यवहार झगड़ा करा सकता है।

कापता हुआ वह जोर से बोला—'सारथी से कहो कि रथ तैयार करे, मैं एकान्त चाहता हूं।'

रथ में मनु क्लान्त-सा बैठा था।

मन्द-मन्द-मन्थर गति से रथ चल रहा था।

नगर के घने जनपद से रथ दूर निकल आया था।

यह सरिता-कूल था। संयोग से वहीं पर वासवदत्ता भी अपने रथ में उन्मन-सी बैठी थी।

मनु के रथ को देखकर उसने नाक-भौं सिकोड़ी।

मनु ने समीप जाकर पुकारा—'वासवदत्ता?'

'...।'—वासवदत्ता मौन रही।

'रुष्ट हो?'—मनु का रथ वासवदत्ता के नितान्त निकट था।

'...।' वासवदत्ता ने अपने सारथी से कहा—'रथ की गति द्रुत करो।'

मनु के देखते-देखते वासवदत्ता का रथ दृष्टि-ओझल हो गया।

मनु क्रोधित होकर हुंकार उठा—'हूं!'

२३

रजनी का आगमन हो चुका था।

तारों भरे नीलाम्बर के मध्य निशाकर अपनी सम्पूर्ण कलाओं से दीप्त हो रहा था।

उसकी ज्योत्स्ना से वासवदत्ता का कक्ष क्षीर के सदृश श्वेत लग रहा था।

मलय-पवन का झोंका उसकी प्रसन्नता में प्रमाद भर रहा था।

आज वह गम्भीर होकर सोच रही थी कि भिक्षु ने उसके साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया? क्या वह मुझे अबोध बालिका समझता है?

अपने आप ही उसने उस प्रश्न का उत्तर दिया—'उसका व्यवहार वास्तव में अद्भुत था। मत्वरता में निर्णय निश्चित करना तनिक दुरूह है।'

वासवदत्ता की भृकुटियां तनिक ऊपर की ओर उठ गयीं।

उसकी तर्जनी उसके अधरों के मध्य टिक गयी।

प्रत्येक अभिलाषा को पूर्ण करता रहूंगा।'

'यह मेरे वश का नही है।'

'तब ?'

'तब क्या ?'

'इसका परिणाम भयकर हो सकता है।'

'आज कोई अनिष्ट करने को आए हो क्या ?'

'हां ! आज प्रभात से ही अनिष्ट होते जा रहे है। दो को पदाघात कर चुका हू और अब तुम्हारे पास अपने प्रेम का प्रतिफल लेने आया हू ?'—मनु का स्वर कर्कश हो गया।

'प्रेम या वासना का ?'

'यह वारामुखी स्वयं समझे।'

'मनु ! तुम इसी क्षण चले जाओ।'

मनु ने श्वेत वस्त्र में आवेष्टित हीरकजड़ित कटार निकाली। उस पर हाथ फेरकर कुठित स्वर मे बोला—'चला जाऊ, बिना किसी निर्णय के।'

'क्या निर्णय चाहते हो ?'—वासवदत्ता के नयन द्वार की ओर गए।

मनु उसके नयनों की गति का तात्पर्य समझ गया।

उसने लपक करके द्वार बन्द कर लिए।

वासवदत्ता के चेहरे पर भय मूर्त रूप हो उठा। उसने कक्ष में अपनी स्थिर पलकें दौडायी। अपने ही अतुल वैभव मे उसका अपना श्वास घुट रहा था।

हठात् एक भयंकर विचार उसके हृदय से धावित हुआ। वह कांप उठी—'कही मनु यह कटार···?'

वह बडबडा उठी—'तुम चले जाओ मनु ! मैं आज्ञा देती हूं कि तुम चले जाओ।'

'अपनी चाह का प्रतिदान लिए बिना ही ?'

'तात्पर्य ?'

'बार-बार मैं तात्पर्य नही समझा सकता ?'

'···।'—वासवदत्ता मौन रही।

'जो मैं चाहता हूं, उसे मुझे निर्विरोध करने दो, अन्यथा वासवदत्ता परिणाम भयंकर हो सकता है ?'

मनु की अंगुलियां भयभीत वासवदत्ता के ग्रीवा मूल पर पड़ी जहां उसके ही द्वारा प्रदत्त पुखराज मणि दीपिका के प्रकाश से झिलमिला रही थी।

जब वासवदत्ता ने विरोध किया तो वे अंगुलियां लौह मेखला-सी उसकी ग्रीवा को दबोचने लगी।

वासवदत्ता ने सतृष्ण नेत्रों से मनु की ओर देखा।

मनु ने उसे मुक्त कर दिया—'चिल्लाने का प्रयास किया तो इस कटार से तुम्हारे प्राण ले लूंगा।'

यह सुनकर वासवदत्ता आहत सर्पिणी-सी फुत्कार उठी—'सामन्त ! निर्बल की परिस्थिति का अनुचित लाभ उठाकर तुम भी सुख से नहीं रह सकते। इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा।'

मनु की त्यौरियां बदल गयी।

वासना के अंक में सुप्त उसका उत्तेजित पथ-विस्मृत मन एक गणिका की यह चुनौती सुनकर तप्त हो उठा—'परिणाम से मनु को न रंचमात्र भय है, न अणुमात्र चिन्ता। पर आज तुम्हारी नयनों की मादकता का यह अनाहूत अवश्य पान करेगा। तुम्हारे अधर-आसव से अपने अतृप्त अधरों को तृप्त करेगा। तुम्हारे यौवन की आंधी को अपने यौवन के झंझा में विलय करेगा।...बोलो सुन्दरी ! प्रतिरोध की क्षमता है ?'

'नहीं।'

'तो तैयार हो जाओ !'

वासवदत्ता आगत संकट से आकुल व विचलित होकर दूर खड़ी हो गयी।

रक्ताभ चेहरे पर पीताम्बरण छा गया। कुछ बोलने का प्रयत्न करने पर भी नहीं बोल सकी। मनु की भुजाएं अजगर की भांति वासवदत्ता के तन के चतुर्दिक अपना वितान तानने लगी।

देखते-देखते वासवदत्ता मनु की क्रोड में थी।

वासवदत्ता छटपटा उठी।

मनु ने कटार दिखा दी।

वासवदत्ता मौन हो गयी—नितान्त मूक ! फिर वासवदत्ता चीत्कार कर उठी—'छोड दो मनु, छोड दो। मैं कहती हूं छोड दो, पतित, नराधम, छली, छोड दो मुझ ··छोड दो।'

वासवदत्ता जितनी उन्मुक्त होने का प्रयास कर रही थी, मनु उसे उतना ही जकड़ रहा था।

वासना अपराध करने के लिए तत्पर हो गयी थी।

वासवदत्ता पुन· सिसक पड़ी—'छोड़ दो मनु, मुझे छोड़ दो।'

मनु ज्वालामुखी-सा भडका—'मायाविनी ! तन में छल, मन मे छल, जीवन मे छल, प्रत्येक संकेत में छल !···छलनामयी !'

'यह अन्याय है ?'

'अन्याय !' मनु ने घृणा से कहा—'उस समय तुम्हारा न्याय कहां चला गया था जब मैं तुम्हें अपार धन देता था ?'

वासवदत्ता तड़प उठी—'फिर भी कुकृत्य मत करो मनु !'

'मैं कर रहा हूं या तुम मुझे करने के लिए विवश कर रही हो।'—मनु के स्वर मे प्रतिहिंसा की आग थी।

'यह अपराध है।'

'जानता हू गणिके ! किसी को उल्लू बनाना भी तो अपराध है। यह अपराध तुमने भी किया है। अतः तुम्हे भी दण्ड मिलेगा।'—और देखते-देखते मनु ने वासवदत्ता के वसनों को जीर्ण करने का प्रयास किया।

क्या करती वासवदत्ता ? चीख नही सकती थी। उसकी चीख ही उसकी मृत्यु थी। अतः वह मनु को टुकुर-टुकुर दयनीय दशा से देखने लगी।

मनु का विवेक वासना के वशीभूत था—केवल वासना के।

वासवदत्ता ने अचानक अपनी पूर्ण शक्ति से उसे धक्का मारकर भूमिसात कर दिया। मनु क्षुधित सिंह की भांति वासवदत्ता पर झपटा। वासवदत्ता ने उसका अपनी समग्र शक्ति से प्रतिरोध किया।

यह क्या ?

प्रकाश मे चमचमाती कटार वासवदत्ता के कर में मृत्यु-सी भयानक होकर चमक उठी।

मनु ने एक जोर का अट्टहास किया।

सारा कक्ष गूंज उठा, कांप उठा।

वासवदत्ता के नयनों में ज्वालाएं जलने लगीं। रणचंडी-सी विकराल होकर उसने मनु को रोका—'भला चाहते हो तो बाहर निकल जाओ, अन्यथा प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा।'

चेतावनी व्यर्थ गयी।

मनु वासना में विवेकशून्य हो चुका था। उसी प्रकार वह पैशाचिक अट्टहास करके वासवदत्ता पर झपटा—'अप्रतिष्ठामयी, छलना, वासना, आज तुम्हारे सौन्दर्य को कलंकित करके ही रहूंगा।...तुमने मेरे हृदय में जो प्रहार किए हैं, उन्हें मैं कदापि विस्मृत नहीं कर सकता।'

'मनु दूर रहो।...मैं कहती हूं कि तुम दूर रहो अन्यथा।'—भय और रोष के मारे वासवदत्ता का अंग-प्रत्यंग कांप रहा था। उसकी वाणी चीत्कार में परिवर्तित हो गयी थी पर मनु को इस परिवर्तन का तनिक भी ध्यान नहीं रहा।

वह अन्धा था। अधरों को दांतों से काटता हुआ भयानक स्वर में बोला—'वारामुखी! आज तुम्हें तुम्हारे छल का दण्ड दूंगा।...तुमने मुझे अत्यन्त कष्ट दिया है, श्वान की भांति दुत्कारा-दुलराया है लेकिन मैं जिस वस्तु को प्राप्त करना चाहता था, उसे प्राप्त नहीं कर सका। लेकिन आज...?'

मनु उन्मादित हो गया।

उसके आचार-विचार, वाणी, चक्षु और आत्मा—सब में वासना का समावेश हो गया। उस वासना का, जो प्राणी को अपराध के लिए तत्पर कर देती है।

वह अपने दोनों हाथों को फैला करके वासवदत्ता पर झपटा।

वासवदत्ता ने एक हृदयवेधक चीत्कार किया।

उसके हाथ में कटार ज्वाला-सी भभक उठी।

एक जोर की चीख के साथ मनु तड़पा—'नीच! कुल्टा, दुराचारिणी...।'

मनु का स्वर शान्त हो गया।

और स्वयं वासवदत्ता मनु की दुर्दान्त मृत्यु पर कांप उठी।

कटार उसके उदर को वीभत्स रूप में चीरती हुई नाभि तक आ गयी थी।

वासवदत्ता भी करुण-क्रन्दन कर उठी। उसने दरवाजा खोला।

बाहर दण्डपांशुल व परिचारिका भी आ गयी थी लेकिन वे भी निस्पंद-सी खडी थी।

मनु ने अल्पकाल तक वासवदत्ता को प्रतिशोधभरी दृष्टि से देखा जैसे उसकी स्थिर होती हुई आखें कह रही हैं—'इस जन्म मे नही तो क्या? अगले जन्म में तुम दुष्टा से अवश्य प्रतिशोध लूगा।'

मनु ने एक जोर की हिचकी ली और इस असार संसार से चला गया।

वासवदत्ता सर्वप्रथम कटार को देखकर जड़वत् खडी रही। उसकी पुतलिया स्थिर एवं निष्प्रभ हो गयी। तब वह मनु के लहूलुहान शव पर पड़कर सिसक-सिसककर दारुण रोदन करने लगी।

पवन शान्त था।

वातावरण निस्पद था।

रजनी के नयन अश्रुपूर्ण थे।

तारे पीडा के छाले बनकर वासवदत्ता को दु:ख देने लग गए थे।

काली यवनिका फटने के लिए आतुर हो रही थी।

२४

नगर मे मनु की मृत्यु का समाचार प्रत्यूष की प्रथम किरण के आलोक-सा विस्तृत हो गया।

सेट्ठिपुत्रो, लक्षाधीशो तथा सामन्तपुत्रो मे इस हत्या से रोष छा गया। जहा खडे होते थे, वही पर बस यही चर्चा थी।

ऐसा प्रतीत होता था कि समस्त नगर मे आतक छा गया है।

नगरपति ने अपने चरों द्वारा शव का अन्वेषण और निरीक्षण

कराया। कितनी वीभत्स मृत्यु थी मनु की—नगर के प्रतिष्ठित सामन्तपुत्र की।

वासवदत्ता—नगर के युवकों की साम्राज्ञी आज बन्दिनी बन गयी थी।

नगरपति, महासचिव, महादण्डनायक, दण्डनायक और नगर के प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठित श्रीमन्त तथा सामन्तगण न्याय-निर्णय हेतु एक सभा में एकत्रित हुए।

अत्यन्त तर्क-वितर्क के पश्चात् यह निर्णय किया गया कि प्राण के परिवर्तन में प्राण लेने चाहिए; नगर के प्रतिष्ठित मनु के प्राण के बदले में इस तुच्छ गणिका को मृत्युदण्ड मिलना चाहिए।

इस भयानक निर्णय से नगरपति विचलित हो गए।

उन्होंने सोचकर कहा—'गणिका वासवदत्ता के प्रति हम यह अन्याय कर रहे हैं।'

नगरपति का इतना कहना था कि उपस्थित सज्जनों में से एक अत्यन्त तरुण राजवर्गीय पदाधिकारी ने नेत्रों में क्रोध भरकर कहा—'गणिका वासवदत्ता! इस घटना में सर्वथा निरपराध है। अपराध की प्रेरणा देने वाला उसका यह अलौकिक सौन्दर्य है। इस सौन्दर्य पर विमोहित मनु उस पर आसक्त हुआ, अपराध की ओर प्रेरित हुआ अतः वासना की प्रतिमूर्ति वासवदत्ता को सौन्दर्य-वंचित कर दिया जाए, उसको कुरूप बना दिया जाए! उसका समस्त धन तथा भवन राजकीय अधिकारी अपने हस्तान्तरित कर ले।'

समस्त उपस्थिति ने अपनी स्वीकृति इसी निर्णय के लिए दे दी।

वासवदत्ता ने भी यह निर्णय सुना तो सभासदों के मध्य वह शेरनी की भाँति खड़ी हो गयी—'नगरपति, महासचिव, महादण्डनायक, श्रीमन्त और सामन्त! प्रणाम!!'

'न्याय भगवान की वाणी होती है और न्यायकर्त्ता भगवान! यदि न्यायकर्त्ता स्वार्थ और अपनत्व में अपने सिद्धान्तों और धर्म को विस्मृत करके अनुचित न्याय करते हैं, तो वे भी बड़े अपराधी हैं, इस सृष्टि के नहीं, उस सृष्टि के जो चन्द्र-सूरज के उस ओर है।'

'मैं जानती हूं—सामन्तों और श्रीमन्तों का नगर में प्रभुत्व है,

निरकुशता है, लेकिन नगर के नगरपति के समक्ष क्या विवशता और भय है, अनुचित निर्णय को देवता की वाणी समझकर मौन बैठे सुन रहे हैं ?

'मैं स्वीकार करती हू— मैंने मनु की हत्या की, लेकिन अपनी कटार से नही, उसकी अपनी कटार से। मनु वाणिनी के वक्ष को चीर करके अपनी अन्तर्ज्वाला को शांत करना चाहता था, पर वह करुणा पात्र ऐसा नही कर सका, उसकी कटार उसी का भक्षण कर गयी।···लेकिन क्यो ! क्योंकि वह मेरी भावुक भावनाओ और लालसाओ को भक्ति से नही, शक्ति से कुचलना चाहता था। वह मेरे पर बलात्कार करना चाहता था और उसने इन्हीं कपोलो को अपने विषाक्त पंजों से काटा था।'

'गणवृन्द ! मनु ने मेरी प्रतिष्ठा पर आघात किया ?'

'गणिका अपनी प्रतिष्ठा की परिभाषा तो करें ?'—एक सेट्ठिपुत्र ने कड़ककर पूछा।

'मेरी प्रतिष्ठा ?···मेरी प्रतिष्ठा उन नारियो से अधिक है क्योंकि मैं समाज के अत्याचारों की नग्न सत्य होकर भी उसका भला करती हूं। उन असन्तुष्ट मनो को भी अपनी कला से शमन देती हू जो सन्तुष्टि के अभाव मे अपराध की ओर उत्प्रेरित होते हैं।'

'तुम कुछ नही हो। सत्य तो यह है कि तुम धन की पुतली हो। धन के समक्ष तुम्हारा सर्वस्व है। तुम आमोद की वस्तु हो, आमोद करना तुम्हारा धर्म है।'—महासचिव ने कहा।

'यह धर्म भी तो आपके द्वारा ही प्रदत्त है। नारी को क्रीड़ा की वस्तु बनाने वाले आप ही तो हैं, न्यायकर्त्ता, धर्मात्मा और समाज-सेवक। मैं पूछती हू।'—वासवदत्ता का स्वर और तीव्र हो गया—'मनु को क्या अधिकार था कि वह अनाहूत की भांति मेरे कक्ष मे प्रवेश करता ?'

इसका अकाट्य उत्तर दिया गृहलक्ष्मी ने—'क्योंकि वे तुमसे हार्दिक प्रेम रखते थे। वे प्रायः तुम्हारे यहा आते-जाते थे। तुम्हारे और उनके प्रेम-पत्रों का परस्पर सदैव ही विनिमय होता रहता था। उन प्रेम-पत्रों मे इस दुराचारिणी की इतनी मधुर बातें होती थी जिसे एक पत्नी भी नहीं लिख सकती।···इनका प्रेम-पत्र चलता रहा। मैं अपने पति के इस दुष्कर्म को सहन नहीं कर सकी। परिणाम यह हुआ कि अल्पकाल के पश्चात् हम

पति-पत्नी के मध्य घोर द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ। कभी-कभी इस कुपात्रा के कारण मेरे देव-तुल्य पति मुझ पर हाथ तक उठा लेते थे।'

एक मूढ सेट्ठिपुत्र धनराज विदूषक की भांति बेडौल मुंह बना करके बोला—'तुम स्त्रिया हम सेट्ठियो के विलास मे क्यो बाधक होती हो। फिर तुम पर कौन विश्वास करे कि तुम भी धर्म की भाति निष्कलक हो। मैं जब एक गणिका के यहा प्रस्थान करने लगा तो मेरी सहधर्मिणी ने मेरे भृत्य के सग अनुचित सम्बन्ध स्थापित कर लिया।'

सभासदो में हसी गूज गयी।

उस हंसी को विदीर्ण करती हुई नगरपति की आज्ञा गूज गयी।

सब मौन हो गए।

वासवदत्ता का क्रन्दन गूज उठा—'धन से नारी की अभिलापाओ की तृप्ति नही होती। आप लोग नारी को प्रमोद का साधन मात्र समझते है, उसकी भावनाओं का उपहास उडाते हैं, उसकी वाणी को व्यर्थ का प्रलाप समझते है और जब नारी आप लोगों की सत्यता को जानकर विरोध करती है तो आप उसे किसी कुचक्र मे फसाकर दण्डित कराने का प्रयास करते हैं। ··यही तो है आपका न्याय ?'

तर्क-वितर्क और कुतर्क चलते रहे पर कोई अन्तिम निर्णय नही निकला।

न्यायाधीश ने वासवदत्ता को अगले दिवस अपने को निर्दोप प्रमाणित करने के लिए प्रमाण मागे, साक्षियां मांगी।

वासवदत्ता की ओर से एक भी साक्षी नहीं आयी क्योकि सेट्ठिपुत्रों-सामन्तों ने उसके समस्त अनुचरो तथा परिचारिकाओं को धन और भय से अपनी ओर मिला लिया था। न्यायाधीश ने वासवदत्ता को कुरूप बनाने का दड दे दिया।

तब वासवदत्ता ने अबोध शिशु की भाति रोदन करके प्रार्थना की—'मुझे कुछ दिवसों के लिए मुक्त कर दिया जाए। मैं एक बार अपने प्रेमी से इसी सौन्दर्य मे भेंट करना चाहती हूं। जब वह मुझे "नही, नही मुझे कुरूप मत बनाओ, प्राण ले लो, पर मेरा यह रूप न लो।···रूपविहीन मैं दानवी का जीवन व्ययीत नही कर सकती। मुझे मृत्यु-दण्ड दे दो।'

मर्मभेदी वासवदत्ता की वाणी वातावरण का हृदय विदीर्ण कर रही थी। प्रार्थना-पर-प्रार्थना करती जा रही थी वह, लेकिन जो निर्णय हो गया, वह परिवर्तित नही हो सका।

दंडगृह मे जब वासवदत्ता लायी गयी तो उसके कर्णों मे प्रतिध्वनि की भाति मनु के शब्द गूज उठे—'आसक्ति की अतृप्ति मे उपेक्षा और विरक्ति का प्रदर्शन, मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता है। अतृप्ति की प्रतिक्रिया असन्तोष के रूप मे होती है और वह असन्तोष कभी-कभी प्राणी को अपराध की ओर भी अग्रसर कर देता है।'

कल के शब्द आज सत्य हो गए।

और उसके मस्तिष्क मे हथौड़े की भाति मार्मिक प्रहार करने लगे सन्यासी के शब्द—'वासना विवेक को नष्ट कर देती है।'

वासवदत्ता पश्चात्ताप में पीडित होकर चीख पड़ी।

और···?

अप्रतिम सुषमा-सम्पन्न सौन्दर्य देवी कुरूप बना दी गयी।

उसे नगर के बाहर एक जीर्ण-शीर्ण खडहर में पहुंचा दिया गया।

२५

समय परिवर्तित हो गया तो सब बदल गए।

वासवदत्ता का अवर्णनीय रूप आज घृणास्पद होकर मनुष्य के वाक्य-बाणो का केन्द्र-बिन्दु बन गया।

उसके अनेकानेक प्रेमी, जो अच्छे दिनो मे अनेक प्रतिज्ञाए प्रेम की किया करते थे, आज उसे दृष्टि भर को देखने तक नही आते थे। दैवयोग से कभी इस पथ से विचर भी जाते तो उपेक्षा से अपना मुंह फेरकर चले जाते थे। तब वासवदत्ता का रोम-रोम रो पड़ता था।

दर्पण से उसे घृणा हो गयी थी।

कभी-कभी किसी पथिक के रथ पर लगे दर्पण में वह अपना चेहरा देख

लेती तो विक्षुब्ध-सी होकर चीखें भरने लगती थी।

वह सोचा करती थी जिस स्वर्णिम-कांति-सा आलोकित चन्दन-चर्चित सुरभित तन का दर्शन पाकर जनपद सुख की तृप्ति का आनन्द लिया करता था, आज वही तन उन्हें भयभीत करने के लिए घिनौना होकर मौन अट्टहास किया करता है।

वह दिवा-रात्रि करुण क्रन्दन किया करती थी।

कभी-कभी आत्मघात करने के लिए तत्पर हो जाती थी।

दो-एक बार वह सरिता के दक्षिणी छोर पर, जो पर्वतीय उच्च शिला-खड था, उस पर जाकर भी वह अपने प्राणों का त्याग नही कर सकी थी।

क्यों नही कर सकी थी ? इसे वह स्वय नही जानती थी।

एक दुर्बलता थी, जिसे दार्शनिको ने जीवन के प्रति मोह कहा है, कदाचित वही उसे निर्बल कर देती थी।

अपने पर झुझलाहट, घृणा और आक्रोश उसे प्रतिपल आता-जाता रहता था।

स्वभाव मे एक विचित्र चिडचिडापन और कठोरता आ गयी थी।

बात-बात पर वह अपने कुन्तलों को नृशसता से खीचकर अपने कपोलों पर अपने ही करो द्वारा प्रहार किया करती थी।

यह उसकी प्रथम मनोदशा थी।

और दूसरी—

वह दिन भर प्रस्तर की प्रतिमा की भाति अर्थशून्य दृष्टि से अनन्त को निहारती रहती थी।

कभी-कभी वह हस पड़ती थी, रो पडती थी, मुस्करा पड़ती थी।

बड़बड़ा उठती थी—'धन सृष्टि की सबसे हेय और निकृष्ट वस्तु है। अतः सर्वप्रथम देश के विधाता को उस पर अपना आधिपत्य करके, उसका सही वितरण कर देना चाहिए ताकि अनाचार-भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन न मिले।'

और कभी-कभी वह धरती पर अपनी तर्जनी से लिखा करती थी—'प्रिय उपगुप्त ! मेरे सर्वस्व···!! अब तुम मत आना।··· मै प्रार्थना करती हूं कि अब तुम मत आना, कभी भी मत आना।'—और इस प्रकार प्रणय-

प्रलाप करती-करती वह लिखने लगती थी—'हत्या, मैंने मनु की हत्या की, *मैं हत्यारिणी हू, पापिन हू, दुराचारिणी हू।'*

और वह रोती रहती थी, कलपती रहती थी, तरसती रहती थी।

दिवस आते थे, रातें जाती थी।

हतभागिनी वासवदत्ता अपना विकृत रूप लिए दुर्दिन व्यतीत कर रही थी।

न कोई उसे अपना कहने वाला था और न ही वह किसी को अपना कह सकती थी।

केवल जीने के लिए जीवित थी।

आज प्रभात हुआ।

वह प्रभात जिस प्रभात को भिक्षु ने वासवदत्ता का प्रणय स्वीकार करने की प्रतिज्ञा की थी।

पिपासा को पूर्ण करने का आश्वासन दिया था।

जीवन से भाराक्रान्त वासवदत्ता पथ पर जा रही थी। चिन्ताओं से उसकी मन स्थिति ठीक नही थी।

अचानक उसकी मुठभेड़ एक भिखारी से हो गयी।

भिखारी भी उसे पहचानता था। उसका स्पर्श होते ही भिखारी प्रताड़णा देता हुआ बोला—*'हत्यारिन ! तुमने मेरा स्पर्श क्यों किया ? तुमने* अपने विगत जीवन मे रूप के अमृत को विष बनाकर कइयों का सुख हरण किया था। अब भगवान तुम्हे अपने कर्मो का भयकर दण्ड दे रहा है।··· मैं भी तुम्हे श्राप देता हू कि तू जल की एक-एक बूद के लिए तरस-तरसकर अपने प्राण त्यागे।'

एक सामन्त समीप ही खडा था।

जब भिखारी मौन हो गया तो वह सामन्त बोला—'मैं तो कहता हू कि इसके शव मे कीडे पड़ जाए। इसने मुझे खूब लूटा है।'

लांछन-पर-लाछन !

वासवदत्ता तिलमिला उठी। ऐसी भयानक मृत्यु की कल्पना मात्र से वासवदत्ता की आंखो के आगे घना अन्धकार छा गया।

उसने तुरन्त विचारा—'ऐसी निकृष्ट मृत्यु आए, इसके पूर्व ही मुझे

अपने निन्दनीय जीवन का अन्त कर देना चाहिए।'

विचार निर्णय मे परिवर्तित हो गया।

वह जनपथ पर आकर द्रुतगति से धावित होने वाले रथ की प्रतीक्षा करने लगी।

जनपथ पर आवागमन भी तनिक अधिक था।

इसी बीच वासवदत्ता को एक अत्यन्त रमणीक स्वर्ण-ध्वज-मंडित रथ भागता हुआ दिखलायी पड़ा।

सारे व्यक्ति उस रथ को देख रहे थे। उनका देखना स्पष्ट बता रहा था कि अवश्य ही यह रथ किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति का है।

जब रथ थोड़ी दूर रहा तो वासवदत्ता उसके समक्ष उन्मत्त-सी भागी।

सारे लोग विकलता से चिल्ला पड़े—'सारथी रथ रोको, रथ रोको, रथ रोको।'

अश्व बलिष्ठ थे। अधिकार में नही आ सके।

लोगों ने नेत्र मूदकर मन-ही-मन कहा—'बेचारी मर गयी।'

लेकिन एक भिक्षु ने वासवदत्ता को मृत्यु के मुख से बचा लिया।

एक तीव्र घोष हुआ—'मर गयी।'

पर दूसरे ही पल सबने देखा—आत्मघात करने वाली कुरूप युवती किसी भिक्षु द्वारा बचा ली गयी है।

सब लोग उस भिक्षु को उसकी जय-जयकार के साथ धन्यवाद देने लगे।

लोगों ने आत्मघातिन को पहचाना। सब ग्लानि से मुह फेरकर चलते बने—'हत्यारिणी वासवदत्ता !'

अश्रु से परिपूर्ण नयनो से वासवदत्ता रोदन भरे स्वर मे बोली—'तुमने मुझे क्यो बचाया, क्यो बचा···?'—अभी तक वासवदत्ता की चेतना दु ख के अथाह सागर मे लुप्त थी। अत· उपगुप्त को पहचान नही सकी।

'यह मेरा धर्म है।' भिक्षु बोला।

बाणवेधित की भांति वासवदत्ता चीत्कार उठी—'तुम !···तुम !!··· तुम यहा क्यों आए ?'

'मैंने तुम्हे आज आने का वचन दिया था।'

'नही।' वह चीख पड़ी।

उपगुप्त उसे रोके, इसके पहले ही वासवदत्ता भाग गयी।

उसने अपने द्वार अवरुद्ध कर लिए। उसकी सिसकियां अब भी सुनायी पड़ रही थी।

उपगुप्त उसके जीर्ण-शीर्ण गृह के समीप आकर उसका द्वार खटखटाने लगे।

'कौन हो?'

'···।'—वही खट्खट्।

'कौन हो?'—कहने के संग द्वार खुले—'तुम?'—द्वार पुनः अवरुद्ध हो गए।

'देवी! अतिथि का ऐसा अपमान नही करना चाहिए। द्वार खोलो। जो व्यक्ति सत्य का सामना करता है, वह अजेय हो जाता है। खोलो, द्वार खोलो।'

द्वार धीरे-धीरे पुनः खुले।

'उपगुप्त!' वासवदत्ता के अश्रु से ओत-प्रोत नयनों मे क्षमा थी।

'हा!'

'क्यो आए हो?'

'तुमसे प्रतिज्ञा जो की थी।'

'प्रतिज्ञा?'

'आज पक्ष का अन्तिम दिन है?'

'हा, लेकिन अब लौट जाओ?'

'क्यों?'

'समय व्यतीत हो गया है!'

'कौन कहता है?'

'मै!'

'किसलिए?'

'क्योकि मेरे पास कुछ नही है। न कुन्दन-सा तन, न वैभव-विलासी मन और न इन प्रसाधनों को एकत्रित करने वाला धन अतः भिक्षु, तुम लौट जाओ, इस भयानक कुरूप नारी मे अब कोई आकर्षण नहीं है।'

'लेकिन इस भयानक रूप में एक कल्याणकारी अद्वितीय ज्योति का प्रादुर्भाव जो हुआ है, जिसे मैं देख रहा हूं।'

'धैर्य दे रहे हो मुझे, बहला रहे हो मुझे।'

'क्यों?'

'कौन-सी ज्योति का अवतरण हुआ है?'

'प्यार की ज्योति का!'

'प्यार?'—चौंक पड़ी वासवदत्ता।

'हां प्यार!···भगिनी। तुम्हारे हृदय में लौकिक प्यार का उद्भव तो अभी ही हुआ है। इसके पूर्व एक उद्दाम था, एक वासना थी और वासना नाशवान होती ही है। वासना के नाश के साथ तुम्हारे हृदय का समग्र कलुष धुल गया है। प्रेम का निर्मल निर्झर तुम्हारे उर में प्रवाहित होकर सात्विकता, सादगी और सुबुद्धि का संचार कर रहा है।

'माता!'—उपगुप्त ने पलकों को बन्द करके पुनः खोला—'मैंने इन नेत्रों से तथागत को पृथ्वी पर अमृत वर्षण करते देखा है क्योंकि मेरा मन उनकी मूर्ति का ही अभिलाषी है और तुम मोह तथा प्रलोभन में पड़कर, सांसारिक भोग-विलास तथा कामाशक्तता में फंसकर ही तुमने भगवान बुद्ध की कल्याणकारी वाणी का श्रवण नहीं किया, अपितु क्षणभंगुर सौन्दर्य पर गर्वित होकर जीवन के महान् सत्य को विस्मृत कर बैठी।

'रूप की सुन्दरता और मनोहरता नश्वर है। जीवन के सत्य को जानने का प्रयास करना चाहिए और मुक्ति के मार्ग की ओर प्रशस्त होकर निर्वाण प्राप्ति की ओर प्रत्येक प्राणी-मात्र को प्रयास करना चाहिए।'

वासवदत्ता भिक्षु की दिव्य वाणी सुन करके उसके चरणों में लोट गयी। चरण वासवदत्ता के अश्रु से तरल हो गए।

अशंक्ष उपगुप्त ने उसे उठाकर प्यार से छाती से लगाया और स्नेह से उसे सहलाने लगे—'तुम्हें अब प्यार चाहिए और मैं अपने वचनानुसार तुम्हें प्यार दूंगा, एक पुत्र का प्यार, एक भ्राता का प्यार, केवल प्यार नहीं, जीवन का समस्त दुलार।···उठो! महापुरुष तथागत का ध्यान धर करके मनसा, वाचा, कर्मणा से उनके द्वारा बताए निर्वाणपथ के मंत्रों को सुनो। उनके श्रवण मात्र से तुम्हारे अशान्त हृदय को शान्ति मिलेगी, क्लान्त मन

को धैर्य मिलेगा।'

इतना कहकर आचार्य उपगुप्त कुरूप वासवदत्ता को धार्मिक पद्धति का ज्ञान कराके धर्मोपदेश देने लगे—'अपने भीतर ज्ञानशक्ति, ध्यानशक्ति, कर्मशक्ति, आत्म-विश्वास और उत्साह की उल्का ज्वलित करके तुम्हें काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, तृष्णा, मत्सर, ईर्ष्या, दुराग्रह, निर्बलता और आलस्य का त्याग करना चाहिए।

'स्वस्थ तन, इन्द्रिया-निग्रह, मन-संयम और पूर्ण पुरुषार्थ, दृढ संकल्प के साथ-साथ इन आठों दु खो—जन्म, रोग, जरा, मृत्यु, शोक, निराशा, सयोग-वियोग से मुक्त होना चाहिए।

'अमिताभ के निर्वाण—दु खों और दुःखों के कारणों से मुक्त होने के मूलमंत्र पर तुम्हें अपने जीवन की समस्त साधना लगा देनी चाहिए। किसी को दु ख नही देना चाहिए। किसी की वस्तु को नहीं चुराना चाहिए। सबकी सेवा करनी चाहिए। मिथ्या भाषण से बचना चाहिए, निर्भयता, विवेक और प्रेमपूर्वक सत्यपरायण करना चाहिए। मिथ्या समाचार प्रसारित करना भी एक अपराध है, अतः इससे भी सदैव दूर रहना चाहिए। दूसरों के अवगुणों को मत देखकर उसके गुणों पर ध्यान देना चाहिए। शपथ कभी भी नहीं खानी चाहिए। समय को व्यर्थ में नही गवाना चाहिए। सार्थक बात करनी चाहिए और मौन रहना चाहिए। लोभ-ईर्ष्या का त्याग करके दूसरों की उन्नति से प्रसन्न होना चाहिए। मन से द्वेष मूल को मिटाकर शत्रुओं का भी भला सोचना चाहिए। अज्ञान का नाश करके सत्य का अन्वेषण करना चाहिए। निराशा के अस्तित्व को ही मिटा देना चाहिए।'

उपगुप्त ने शान्त स्वर में कहा—'यही निर्वाण है। इन्ही उपदेशों का पालन करके प्राणी निर्वाण के परम पद को प्राप्त करता है।

'वासवदत्ता!

'समझो!!

'जागो!!!

'अपने मन के पवित्र उच्च भावों तथा वृत्तियों का सम्बल लेकर बुद्ध भगवान की शरण मे आकर अपने कल्याण की प्रार्थना करो। जीवन का वास्तविक आनन्द तुम्हें यहीं मिलेगा।'

आगे-आगे भिक्षु चला। भिक्षु सग यन्त्र-सचालित-सी वासवदत्ता द्वार की ओर बढी।

भिक्षु के अधर पर सौम्य मुस्कान थिरक उठी—उसने मन-ही-मन सोचा—'यह विजय मेरी नही, मेरे धर्म की है, मेरे प्रभु तथागत की है।'

द्वार के बाहर होते ही भिक्षु ने उच्च स्वर मे कहा .

वुद्ध सरण गच्छामि
धम्म सरण गच्छामि
सघ सरण गच्छामि।

वासवदत्ता ने देखा—भिक्षु के दिव्यानन पर एक अद्भुत आलोक दीप्त हो रहा है।

द्वार के बाहर ही कवि राहुल नत-नयन किए खडा था। आचार्य उपगुप्त को देखकर वह प्रणाम करने के लिए झुक गया।

आचार्य उपगुप्त ने आशीर्वाद देकर कहा—'सघ की ओर प्रस्थान करो भिक्षु !'

और वासवदत्ता के अधर भगवान बुद्ध के त्रिरत्नो को उच्चारित करने के लिए तड़प उठे·

वुद्ध सरण गच्छामि
धम्म सरणं गच्छामि
सघ सरण गच्छामि।